हिन्दी साहित्य

की

'ऐतिहासिक चर्चा'

आलोचना व निबन्ध

लेखक

पं० गंगाराम शर्मा, एम० ए० शास्त्री,

रामजस कालिज देहली ।

इंडियन प्रेस लिमिटेड

प्रयाग

मूल्य १।।)

प्रकाशक
के० मित्रा
इंडियन प्रेस, लिमिटेड,
इलाहाबाद ।

मुद्रक
श्री अमलकुमार वसु,
इंडियन प्रेस, लिमिटेड,
बनारस ब्रांच ।

प्राक्कथन

बड़े सौभाग्य की बात है कि हमें 'हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक चर्चा' आपकी सेवा में उपस्थित करने का सुअवसर मिला। पुस्तक यद्यपि छोटी है परन्तु समादरणीय है क्योंकि इसमें हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रत्येक युग तथा तद्गत प्रवृत्ति विशेषों का विशद वर्णन किया गया है।

पुस्तक कुछ अपनी विशिष्टता भी रखती है जिसका अनुभव पढ़ने से होगा। विशेष लिखना आत्मश्लाघामात्र है इतना लिखना पर्याप्त है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास पर इस से छोटी और सुन्दर पुस्तक लिखना कठिन है। इति शम्

रामजस कालिज
देहली
श्रावण शुक्ला तृतीया
सं० २००६

गंगाराम

आलोचना व निबन्ध

विषय सूची

———

हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक चर्चा

पहिला प्रवचन

साहित्य मनुष्य की चित्त-वृत्त का दर्पण है। समाज की राजनैतिक अवस्था का साहित्य पर यद्यपि प्रभाव पड़ता है, परन्तु साहित्यिक उन्नति या अवनति केवल राजनैतिक अवस्था ही पर निर्भर हो ऐसा नहीं। इसका उदाहरण हिन्दी-साहित्य का इतिहास ही है।

हिंदी साहित्य का इतिहास सं० १०५० से वर्तमान समय तक का अर्थात् लगभग १००० वर्ष के हिन्दू समाज की भावनाओं का एक सुन्दर चित्र-सा है। इसमें कुछ उदार-हृदय मुसलमान लेखक भी दृष्टिगोचर होते हैं। हिन्दी-साहित्य समृद्ध तथा सर्वाङ्ग पूर्ण हैं; परन्तु इसका इतिहास लिखते समय हमें यह मानना पड़ता है कि हिन्दी-साहित्य में भी गद्य का प्रादुर्भाव बहुत पीछे हुआ।

संस्कृत काव्य के समान हिन्दी काव्य के भी दो मुख्य भेद हैं:—

१. दृश्य

२. श्रव्य

दृश्य काव्य

यह वह काव्य है जिसकी कथा-वस्तु रंग-मंच पर अभिनय द्वारा देखी और सुनी जा सके। संस्कृत दृश्य काव्य पद्धति के अनुसार इसके दो भेद हैं:

१. रूपक

२. उपरूपक

रूपक

इसमें नट आदि अतीत महापुरुषों की वेष-भूषा बनाकर रंग-मंच पर उनका जीवन चरित्र प्रदर्शन करते हैं। संस्कृत साहित्य के अनुसार इसके अधोलिखित दश भेद हैं:—

नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक, ईहामृग।

उपरूपक

उपरूपक, रूपक से निम्नकोटि के होते हैं। भाषाओं के आधार पर, निम्नकोटि की कला होने के कारण तथा अन्य कई कारणों से उपरूपक, रूपक से भिन्न माने गये हैं। संस्कृत साहित्य में उपरूपक के अधोलिखित अठारह भेद माने जाते हैं:—

नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टकनाट्य रासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेङ्खण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणी, हल्लीश, और भाणिका। हिन्दी के लिए आवश्यक नहीं।

(२) श्रव्य-काव्य

इसके भी दो भेद हैं:—

१. पद्य काव्य जो छन्दोबद्ध होता है

२. गद्य काव्य—जिसमें काव्य रचना छन्दों के बन्धन से मुक्त रहती है

पद्य के फिर दो भेद हैं:—

(क) प्रबन्ध काव्य

(ख) मुक्तक काव्य

प्रबन्ध काव्य

प्रबन्ध काव्य के दो भेद हैं—महाकाव्य और खंडकाव्य। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

प्रबन्ध काव्य में आदि से अन्त तक सुसम्बद्ध शैली से किसी एक महान्-पुरुष का अथवा किसी उदात्त वंश का वर्णन होता है। इसके अन्तर्गत पद्यों का एक दूसरे से सम्बन्ध होता है। इसकी कथा वस्तु एक शृंखला में बँधी होती है। एक भाग का दूसरे भाग के साथ मेल होता है और अतएव उनका क्रम परिवर्तित नहीं किया जा सकता।

मुक्तक में प्रत्येक पद्य स्वतन्त्र होता है और उनका क्रम भी पलटा जा सकता है। सुन्दर मोती के समान प्रत्येक पद्य अपनी शोभा रखता है और उसको पास के पद्य की अपेक्षा नहीं होती।

महाकाव्य का लक्षण यद्यपि लक्षण ग्रंथों में खूब विस्तृत दिया हुआ है, यहाँ संक्षेप में इतना समझ लें कि महाकाव्य सर्गों में विभक्त रहता है वह एक गुणी नायक या किसी श्रेष्ठ कुल का वर्णन करता है। महाकाव्य, जीवन के समस्त अङ्गों को लेकर चलता है, अतः प्रबन्ध काव्य के इस मुख्य भेद में अनेक रस पाये जाते हैं, परन्तु प्रधानता, एक रस की ही होती है। गिरि, नदी, ऋतुओं के सुन्दर वर्णन होते हैं। इनमें सूर्योदय और सूर्यास्त का वर्णन भी बड़ा रुचिकर होता है।

सज्जनों की प्रशंसा, दुर्जनों की निन्दा प्रायः सभी महाकाव्यों में मिलती हैं। महाकाव्य के एक सर्ग में एक ही छंद रहता है।

खंडकाव्य

इसमें नायक की केवल किसी एक घटना का मुख्य-रूप से वर्णन रहता है। यह छिपे हुए रूप में लेखक की आत्माभि-व्यञ्जना होती है। खंडकाव्य का महाकाव्य के साथ वह ही सम्बन्ध होता है, जो कहानी का उपन्यास के साथ अथवा हिंदी के एकांकी नाटकों का हिंदी के नाटकों के साथ है।

मुक्तक (लक्षण ऊपर दिया जा चुका है)

यद्यपि इसके कई भेद हैं, परन्तु हिन्दीसाहित्य में अधोलिखित दो भेद बहुत प्रसिद्ध हैं:—

१. राजनैतिक दोहे अथवा सदुक्तियाँ आदि, जैसे रहीम के, कबीर के वचन।

२. गीति काव्य।

इसका लक्षण और वर्णन आगे किया जाएगा।

श्रव्य काव्य (गद्य)

इसके कई भाग हैं। जैसे:—

१. उपन्यास

२. कहानी

३. निबन्ध

४. समालोचना

५. जीवनी

६. पत्र-पत्रिकाएँ

यदि हिन्दी-साहित्य के इतिहास पर एक दृष्टिपात किया जाए और उसकी मुख्य प्रवृत्तियों का अध्ययन किया जाए तो समस्त साहित्य का इतिहास चार कालों में विभक्त होता है:—

१. आदिकाल या वीर गाथाकाल–१०५०–१३७५ सं० तक

२. पूर्वमध्य काल या भक्तिकाल–१३७५–१७०० सं० तक

३. उत्तर मध्य काल या रीतिकाल–१७००–१९०० सं० तक

४. आधुनिक काल या गद्य काल–१९०० से......

इन चारों कालों का हिन्दी-साहित्य पढ़ने से मालूम होता है कि, वर्तमान युग से पहिले हिन्दी-साहित्य एक ही रूप में अर्थात् पद्य रूप में ही था। इससे यह स्पष्ट हुआ कि हिंदी-साहित्य अपने इतिहास के पूर्व के तीन कालों में पद्य में ही रहा और पद्य के हम दो रूप ऊपर बता आए हैं–प्रबन्ध तथा मुक्तक। संक्षेप में बात

यह हुई कि वर्तमान काल से पूर्व का इतिहास हिन्दी प्रबन्धों और मुक्तकों का ही इतिहास है ।

दूसरा प्रवचन

आदिकाल-वीर गाथा काल–१०५०—१३७५ सं० तक।

इस काल का इतिहास देने से पूर्व छात्रों को दो-चार बातों का ध्यान रखना चाहिये जो इस प्रकार हैं:—

१. इस काल में हिन्दीभाषा का जिसे भाषा-तत्त्व वेत्ता प्राचीन हिन्दी कहते हैं जन्म हो चुका था, परन्तु अपभ्रंश-भाषा की कविता भी जारी थी। अपभ्रंश के मुख्य काल में अर्थात् सं० ५०० से ९५० तक भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न अपभ्रंशों का प्रयोग होता था, उसमें साहित्य भी था परन्तु उस देश में जो अपभ्रंश काल के अनन्तर हिन्दी-भाषा भाषी देश बना, लेख में दो अपभ्रंशों का उपयोग होता था। (क) मथुरा तथा देहली और मेरठ के आस पास शौरसेनी अपभ्रंश का प्रचार था। उसी से पश्चिमी हिन्दी की उत्पत्ति हुई है। प्राचीन हिन्दी काल में जो अपभ्रशं-साहित्य मिलता है—वह शौरसेनी अपभ्रंश में ही है। (ख) अर्ध मागधी अपभ्रंश जो शौरे सेनी अपभ्रंश से मिलता जुलता था और जिससे पूर्वी हिन्दी का जन्म हुआ तथा जो भारत-वर्ष के पूर्व-भाग में प्रचलित था।

(इस प्रकार अपभ्रंश साहित्य के भी दो काल हो गये)

प्राचीन हिन्दी काल में कुछ अपभ्रंश साहित्य की प्रासंगिक चर्चा अवश्य करनी होगी, परन्तु वह केवल शौरसेनी अपभ्रंश की होगी और उसके लेखक बौद्ध अर्थात् वज्रयानी सिद्ध, नाथ-पन्थी साधु कुछ जैनाचार्य तथा कुछ अन्य भी थे जिनकी कवि-ताओं में अपभ्रंश का प्रयोग वीरगाथा काल के कुछ अनन्तर भी चलता रहा। मैथिल कोकिल विद्यापति यद्यपि भक्ति काल के

कवि थे। परन्तु अपभ्रंश में भी लिखने के कारण वीरगाथा काल के अपभ्रंश लेखकों में भी आएंगे।

उपर्युक्त लेख से स्पष्ट हुआ कि पहली बात जो छात्रों को याद रखनी चाहिए वह यह है कि हिन्दी साहित्य के आदि युग में उन्हें दो साहित्यों का इतिहास अध्यन करना है—

१. उस अपभ्रंश साहित्य का जो १०५० से १४५० सं० तक लिखा गया।

२. तथा प्राचीन हिन्दी का जिसे हिन्दी साहित्य के इतिहास का आदिम युग अथवा वीर गाथा काल कहते हैं :—

(२) अपभ्रंश भाषाओं से क्या तात्पर्य है ?

अपभ्रंश भाषाएँ वे भाषाएँ थीं जो वर्तमान हिन्दी, पंजाबी, मरहठी, बंगाल आदि के विकसित होने से पूर्व तत् तत् प्रांतों में सं० ५०० से ९०० या ९५० तक लोकभाषाएँ थीं तथा जिनसे आधुनिक उपर्युक्त आर्यभाषाओं (हिन्दी, पंजाबी आदि) का जन्म हुआ।

आदि युग में (१०५० से १३७५) यद्यपि आधुनिक हिन्दी भाषी प्रदेश में जनसाधारण की भाषा प्राचीन हिन्दी थी परन्तु जैसा ऊपर कहा गया है अपभ्रंश भाषा में भी कविता चल रही थी। इसके साथ साथ भाट या राजाश्रित कवि प्राचीन हिन्दी (जनसाधारण की भाषा) में कविता करने लग गये थे। इन भाटों आदि के काव्यों की चर्चा ही हिन्दी साहित्य के आदि युग का इतिहास है।

(३) प्राचीन हिन्दी भाषा तथा अपभ्रंश के अतिरिक्त इस हिन्दी साहित्य के इतिहास के आदि युग में एक और तीसरी भाषा भी लेखन व्यवहार में थी। यह तीसरी भाषा अपभ्रंश, हिन्दी, पंजाबी, फारसी और राजस्थानी आदि अनेक भाषाओं के मिले

हुए शब्दों से बनी थी और इसका व्यवहार नाथपन्थी साधु तथा सिद्धलोग जनसाधारण में अपना धर्मोपदेश करते समय करते थे। इस भाषा को विद्वानों ने सधुक्कड़ी भाषा कहा है। सधुक्कड़ी में भी कविता होती थी जिसकी शब्दावली और जिसके छन्द अटपटे होते थे। कबीर आदि सन्त कवियों ने इसी भाषा को अपनाया था और अपने ही ढंग में कुछ इसे परिष्कृत भी किया था।

(४) सिद्ध लोग देश के पूर्व भाग में तथा नाथ पंथी साधु पश्चिम या कहीं कहीं राजपूताने में अपना प्रचार करते थे। प्राचीन हिन्दी में जो साहित्य लिखा जा रहा था उसका केन्द्र देहली, मेरठ तथा राजस्थान था और जैसा ऊपर बताया जा चुका है यहाँ की प्राचीन हिन्दी पश्चिमी हिन्दी थी। पूर्व में पूर्वी हिन्दी उत्पन्न हो चुकी थी और उसका साहित्यिक रूप (अवधी) धीरे धीरे अपना आधिपत्य जमा रहा था। पश्चिमी हिन्दी का साहित्यिक रूप-व्रजभाषा और खड़ी बोली नियत हो चुका था।

सं० १०५०–१३७५ का अपभ्रंश साहित्य और उसके प्रसिद्ध लेखक (बोध के लिए, परीक्षा के लिए नहीं)

हेमचन्द्र, सोमप्रभसूरि, जैनाचार्य मेरुतुङ्ग। शार्ङ्गधर और विद्यापति।

हेमचन्द्र

ये सम्भवत: सं० ११५० से १२३० के बीच के समय में हुए। ये अपने समय के एक प्रसिद्ध जैनाचार्य थे। इन्होंने सिद्ध हेमचंद्र शब्दानुशासन व्याकरण ग्रंथ लिखा था। इस पुस्तक में संस्कृत, प्राकृत (अपभ्रंश से पहिली भाषाएँ) तथा अपभ्रंश तीनों के उदाहरण दिए गए हैं। अपभ्रंश के उदाहरणों में अधिकांश दोहे

इनके समय से पहिले के हैं। इन्होंने कुमारपाल चरित एक प्राकृत काव्य भी लिखा था।

सोमप्रभसूरि

इन्होंने सं० १२४१ में कुमारपाल प्रतिबोध नाम की एक पुस्तक संस्कृत तथा प्राकृतिक में लिखी। बीच में कहीं-कहीं संस्कृत के समान अपभ्रंश भाषा का प्रयोग भी किया है (ग्रंथ गद्य पद्यमय है)। अपभ्रंश के पद्य कुछ औरों के हैं और कुछ इनके स्वयम् के लिखे हुए हैं।

जैनाचार्य मेरुतुङ्ग

ये एक प्रसिद्ध विद्वान् तथा अपने समय के बहुत बड़े कवि थे। इन्होंने संस्कृत में प्रबन्ध चिन्तामणि नामक एक ग्रंथ की रचना की। (इसमें बहुत से प्राचीन राजाओं का संक्षिप्त वृत है)। बीच-बीच में प्राचीन अपभ्रंश के तथा प्राचीन हिन्दी के दोहे भी दिए गए हैं और वे अच्छे सुन्दर हैं।

शार्ङ्गधर

ये अपने समय के बहुत प्रसिद्ध विद्वान् थे। आयुर्वेद का प्रसिद्ध ग्रंथ शार्ङ्गधर इन्हीं की कृति है। इनकी दूसरी रचना शार्ङ्गधर पद्धति। एक सूक्ति संग्रह है। इसका समय १४ वीं शताब्दी का अन्तिम चरण माना है। इन्होंने प्राचीन हिन्दी में भी बहुत कुछ लिखा था जैसे हम्मीर रासो। इनके हिन्दी के उदाहरण श्री मल्ल-देव की प्रसंसा में कहे हुए श्लोक हैं।

विद्यापति

हम ऊपर कह आए हैं कि अपभ्रंश में रचना वीरगाथा काल के बाद तक होती रही थी। विद्यापति का समय सं० १४५० के लगभग माना जाता है। इन्होंने अपभ्रंश भाषा में दो ग्रंथ "कीर्ति-लता" और 'कीर्तिपताका' नामक लिखे। इनकी अपभ्रंश भाषा

की विशेषता यह है कि यह पूर्वी अपभ्रंश है जिसमें देशी भाषा (हिन्दी) का भी अच्छा पुट है। इनकी शैली कुछ संस्कृत शब्दों को भी लिए हुए है। इनका कुछ विस्तार सहित उल्लेख भक्तिकाल में किया जाएगा।

देशी भाषा अथवा प्राचीन हिन्दी-साहित्य का इतिहास

विद्वानों का मत है कि इस समय का जो प्राचीन हिन्दी का साहित्य मिलता है अथवा जो उसके लेखक बताये जाते हैं, वे सब संदिग्ध हैं। उदाहरण के लिए चन्द बरदाई और उसके पृथ्वीराज रासो को ही ले लीजिये। यद्यपि जनश्रुति के आधार पर चन्द पृथ्वीराज के सामन्त तथा सभा के प्रमुख कवि और पृथ्वीराज रासो के लेखक बताये जाते हैं, परंतु यदि इस जनश्रुति की इतिहास की कसौटी पर समीक्षा की जाये तो ज्ञात होता है कि पृथ्वीराज के समय में चन्द नाम का कोई कवि न था। इसी प्रकार यदि पृथ्वीराज रासो की भाषा को जाँचा जाये तो आद्योपान्त यह उस समय का ग्रंथ हो नहीं सकता। ऐसा ही सन्देह इस समय के अन्य काव्यों के और उनके लेखकों के विषय में है।

जनश्रुति के आधार पर अन्य इतिहास लेखकों के समान हम भी इस सन्दिग्ध को सत्य मानकर उसका इतिहास देते हैं, यत्र-तत्र ऐतिहासिक तथ्य की ओर संकेत अवश्य करेंगे।

इस काल के इतिहास देते समय दो-तीन प्रश्न उपस्थित होते हैं और उनका स्पष्टीकरण भी आवश्यक प्रतीत होता है। संक्षेप में वे बातें ये हैं :—

(१) इस समय की राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक अवस्था क्या थी?

(२) इस काल में वीर गाथा अथवा वीर काव्य ही क्यों लिखे गए?

(३) इस काल की वीर कविता की विशेषताएँ क्या हैं?

१. हिन्दी भाषा के जन्म के समय अर्थात् सम्वत् १००० के लगभग, देश में घोर राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक अशान्ति और अव्यवस्था फैल रही थी। विदेशी हमारा द्वार ही नहीं खटखटा रहे थे अपितु निरन्तर बढ़े चले आ रहे थे। यद्यपि उन्हें अनेक बार मुँह की खानी पड़ी थी परन्तु वे धर्मांध थे। अपने नये धर्म का प्रचार और भारत की लूट का चाव उन्हें बार बार भारत की ओर खींचता था। उनमें एक नया उत्साह था, धैर्य्य था, और एक नई उमंग थी। इसके विपरीत हमारा देश परस्पर कलह से रसातल को पहुँच रहा था; और बचा खुचा विलासिता में डूबा हुआ था। आन्तरिक द्वेष देश में प्रतिदिन बढ़ता जाता था; और अवस्था इतनी शोचनीय हो गई थी कि एक राजा की कन्या का विवाह तक बिना किसी दूसरे राजा के साथ मुठभेड़ के असम्भव सा हो गया था। देश छोटे २ राज्यों में बट चुका था। आपा-धापी का समय था। विदेशियों को रोकने के लिए एक दृढ़ प्रयत्न का सर्वथा अभाव था। इस राजनैतिक और सामाजिक उथल-पुथल के साथ-साथ धर्म के नाम पर भी अनेक अनाचार फैलाये जा रहे थे। वाममार्गी पतित बौद्धों का प्रभाव देश में बढ़ता जा रहा था। वेद, धर्मशास्त्र, तथा विद्वान् ब्राह्मणों पर से जनता की श्रद्धा हट रही थी। विलासिता धर्म का एक मुख्य अंग बन चुकी थी। ईश्वर-दर्शन के आनन्द की तुलना स्त्री-पुरुष संयोग-जन्य शारीरिक-सुख से की जाती थी, ईश्वर मिलन की अवस्था के लिए स्त्री-पुरुष के आलिंगन की उपमा दी जाती थी। संक्षेप में बात यह है कि जन-साधारण की प्रवृत्ति सन्मार्ग से हट कर कुमार्ग की ओर चल पड़ी थी। इस समय के वाममार्ग की झलक आज भी कहीं-कहीं प्राचीन मन्दिरों में अश्लील चित्रों के रूप में दीख पड़ती है। यही संक्षेप में उस समय की राजनैतिक सामाजिक और धार्मिक अवस्था का दिग्दर्शन है।

। २. ऐसे घोर अशान्ति के समय और विशेष कर जब हिन्दी भाषा का जन्म हुआ ही था और विदेशी देश को पदाक्रान्त कर रहे थे, केवल वीर रस की कविता ही सम्भव हो सकती थी। विदेशी आक्रमण वीर भावना के उत्पन्न करने में सहायक होता है। किंच, वीर रस की कविता के लिए शब्द-माधुर्य की जो भाषा में उसके विकसित होने के कुछ अनन्तर आता है आवश्यकता नहीं। राजनैतिक उथल-पुथल में न कवियों का ही यह मन होता है कि वे अन्य किसी रसकी चर्चा छेड़ें और न जनता को ही यह अवकाश होता है कि कवियों की अन्य रस की वाणी को पढ़ें या सुनें। अत: स्पष्ट हुआ कि इस काल में वीर रस की कविता अर्थात् वीर गाथा की ही रचना सम्भव थी और वह ही हुई। अन्य रसों की कविता या तो लिखी ही नहीं गई और यदि लिखी भी गई हो तो हम तक आई नहीं। हम को तो इस समय की हिन्दी में जो अधिकांश सामग्री मिली है वह केवल वीर काव्य के ही रूप में है।

३. इस काल की वीर कविता की विशेषताएँ

इस युग की वीर कविता ओजपूर्ण है। उस में जीवन है और युद्धों का बहुत ही विशद वर्णन है। इस वैशद्य का कारण भी स्पष्ट है— इस समय के लेखक प्राय: जाति के चारण अर्थात् भाट होते थे। वे अपने आश्रयदाता राजाओं के साथ युद्ध भूमि में भी जाते थे। उनके हौदों से अपना हौदा मिला कर उनके शत्रुओं का नाश करते थे। राजाओं की वीरता युद्धस्थल में अपनी आँखों से देखते थे। स्वाभाविक है कि युद्धस्थान की भीषणता कविता करते समय उनकी मानसिक चक्षु के सामने स्पष्ट रूप में रहती थी। इसी कारण उनकी लेखनी में वह वर्णन-शक्ति दृष्टिगोचर होती है जो युद्धस्थल से कोसों दूर बैठे हुए और अतीत युद्ध के वर्णन करने वाले कवियों की लेखनी में कभी नहीं देखी जा सकती।

जहाँ हम इस समय के कवियों की लेखन-कला की प्रशंसा करते हैं, साथ ही हमें यह भी मानना पड़ता है कि इस काल के कवि यद्यपि वीर थे, धीर थे तथा सामन्त और सच्चरित्र थे ; सब कुछ थे परन्तु आदर्शवादी न थे। वे अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए मिथ्या युद्धों की कल्पना कर उनकी वीरता का बखान करते थे। अत: इस समय के लेखकों की कविता में ऐतिहासिक तथ्य बहुत थोड़ा मिलता है। सम्भव है इस समय के लेखकों की इस प्रवृत्ति ने ही सत्यवस्तुओं को मिथ्यात्व का वस्त्र पहनाकर इस समय की समस्त साहित्यिक सामग्री को संदिग्ध बना दिया।

वीर रस ही इस समय की कविता का केवल विषय अथवा मुख्य विषय था अत: इस काल को वीर गाथा कहना युक्ति संगत है।

वीर गाथाएँ दो रूप में मिलती हैं:—

(१) प्रबन्ध काव्य।

(२) मुक्तक या वीर गीत।

यह तो हम पहले कह चुके हैं कि वीर गाथा काल की जो सामग्री प्राप्त है उसमें बहुत कुछ सन्दिग्ध है परन्तु प्रामाणिक सामग्री के अभाव में उस सन्दिग्ध का ही वर्णन करते हैं। अतएव वीर-गाथा काल की जो प्रतियाँ प्राप्त हैं उनके विषय में सामान्य रूप से यह स्मृत रहे कि इनका मौलिक रूप यदि कोई था तो बहुत कुछ भिन्न था। दोनों रूप (यदि मूलरूप भी था) इतने मिल-जुल गये हैं कि उनको पहचानना अथवा पृथक् करना कठिन ही नहीं अब असम्भव है।

इस काल की अधोलिखित कृतियाँ हैं।

१. खुमान रासो—

यह एक प्रबन्ध काव्य है। आजकल यह जिस रूप में मिलता है उसमें महाराणा प्रताप तक का वर्णन है। विद्वानों का कथन

है कि मूल रूप में इसमें चित्तौड़ के दूसरे खुम्माण (वि० सं० ८७०-९००) के युद्धों का वर्णन था। इसके रचयिता दलपति विजय बताये जाते हैं। इसके मूल रूप का पता लगाना असम्भव-सा है बस यही मानना पर्याप्त है कि वर्तमान रूप प्राचीन रूप का परिवर्तित स्वरूप है अर्थात् प्राचीन काल की जो सामग्री चली आ रही थी वह बहुत पीछे के राजाओं के वर्णन से उपयुक्त की गई और उसका फलस्वरूप वर्तमान खुमान रासो है। रासो का तात्पर्य संक्षेप में 'रासा' अर्थात् वीर कृत्य समझ लें। इस शब्द का पर्याय 'रास' सुप्रसिद्ध है।

२. पृथ्वीराज रासो—

यह एक विशाल प्रबन्ध काव्य है, पृथ्वीराज के सामन्त सखा कवि चन्द वरदाई का लिखा हुआ बताया जाता है। इसमें घटनाओं और कथानकों की बड़ी सुन्दर और मन को रिझाने वाली अनेक रूपता पाई जाती हैं। चन्द यदि कोई था तो वह हिन्दी का प्रसिद्ध प्रथम महाकवि है और उसका पृथ्वीराज रासो जितना भी उसने लिखा हो हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है। यह अनुपम ग्रन्थ समयों में बँटा हुआ है। इसमें क्षत्रियों के प्रसिद्ध चारों कुलों की उत्पत्ति से लेकर पृथ्वीराज के पकड़े जाने तक का वर्णन है। यह हम फिर कह देना चाहते हैं कि ऐतिहासिक कसौटी इसको हिन्दी भाषा का प्रथम महाकाव्य नहीं मानने देती। राय बहादुर पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जैसे विद्वानों का कथन है कि यह ग्रन्थ जाली है और चन्द नामक कोई कवि पृथ्वीराज के समय में नहीं हुआ। उनका कथन है कि अत: एव रासो में दिये हुए संवत् ऐतिहासिक तिथियों से मेल नहीं खाते। इसके विपरीत पं० मोहनलाल विष्णुपाल रासो को चन्द का, पृथ्वीराज के ही समय का ही लिखित ग्रन्थ बताते हैं वह अपने मत के अनुसार रासो में वर्णित घटनाओं के काल-क्रम भी संगत कर देते

हैं। परन्तु इनका भी यह कथन है कि ग्रन्थ का वर्तमान रूप मूल रूप नहीं है। इसमें पीछे से बहुत कुछ जोड़ दिया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि आज जिस रूप में यह ग्रंथ हमारे सामने है वह अवश्य संदिग्ध रूप ही है।

भाषा को भी जाँचने से हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं। इसके कुछ भागों में प्रयुक्त भाषा स्पष्ट रूप से बताती है कि इसके कुछ भाग सम्वत् १६०० या १७०० से पहले के नहीं हो सकते।

सम्भव है चन्द नाम का कोई कवि पृथ्वीराज के दरबार में हो और उसने अनेक प्रकार के छन्दों में अपने आश्रयदाता का स्तवन किया हो। कालचक्र में आकर भाषा और वर्णन में बहुत कुछ भेद आ गया फिर भी वर्तमान रूप में बहुत कुछ प्रक्षिप्त सामग्री के साथ कुछ स्थलों पर अपना प्राचीन रूप लिये हुए हो।

जो भी हो, भाषा सौंदर्य, विषय वैशद्य, तथा वर्णनों में ओज इस पुस्तक की विशेषताएँ हैं कहीं कहीं कोमलकान्त पदावली तथा अर्थ-गौरव और मीठी उक्तियाँ पढ़नेवाले के हृदय को बहुत ही प्रसन्न करती हैं, परन्तु साथ ही यह बात भी याद रखनी चाहिए कि इसमें महाकाव्यों के समान न किसी एक प्रसिद्ध युद्ध का वर्णन है और न इसकी बहुत-सी घटनाएँ परस्पर सुसम्बद्ध हैं। न यह राष्ट्रीय भावनाओं का द्योतक है और न उसका कथानक ही अवि-च्छिन्न गति से चलता है परन्तु फिर भी हम इसे एक विशाल प्रबन्ध महाकाव्य कहते हैं, यह वीर गाथा काल के ग्रंथों में शिरो-मणि है और अपना विशेष गौरव रखता है।

चन्द वरदाई

जैसा हम पहिले कह आये हैं चन्द हिन्दी भाषा के प्रथम महाकवि माने जाते हैं। इनका पृथ्वीराज रासो हिंदी का प्रथम विशाल महाकाव्य है। ये महाराज पृथ्वीराज के समकालीन थे।

इनके पिता लाहौर के रहने वाले थे और अजमेर का राजघराना इनके पिता का यजमान था। ये पृथ्वीराज के राजकवि ही नहीं अपितु परममित्र और सामंत भी थे। ऐसा कहा जाता है कि महाराज पृथ्वीराज के साथ ही उनका जन्म हुआ और उनकी मृत्यु के साथ ही इनकी मृत्यु हुई। रासो में भी यह कथा आती है। जब महमूद गोरी पृथ्वीराज को पकड़कर गजनी ले गया तो चंद भी वहाँ पहुँच गया और शब्दवेधी वाण द्वारा गोरी को पृथ्वीराज के हाथ से मरवा कर, स्वयं पृथ्वीराज को अपने हाथों से मार कर मर गए। जब ये गज़नी गए, पृथ्वीराज रासो उस समय पूरा नहीं हुआ था। चंद के पश्चात् उनके सुयोग्यतम पुत्र जल्हण ने उसे पूरा किया। एक पंक्ति भी इस विषय की रासी में मिलती है :—

"पुस्तक जल्हण हत्थ दै, चलि गज्जन नृप काज"

ऐसी अनुमिति होती है कि किसी कवि ने राणा अमरसिंह (श्रीप्रताप के पुत्र) की आज्ञा से चंद के लिखे अनेक छन्द एकत्रित किये और उनके साथ नूतन निर्मित रचनाएँ जोड़कर इसे वर्तमान रूप दे दिया। निस्संदेह यदि रासो की भाषा और विषय पर सूक्ष्म ध्यान दिया जाये तो मानना ही पड़ेगा कि इसका बहुत सा भाग पीछे की कृति है। प्रबल जनश्रुति, जिसके अनुसार चन्द पृथ्वीराज के राज कवि कहे जाते हैं, उसके विरुद्ध जब तक कोई अकाट्य प्रमाण न मिले, तब तक चन्द को पृथ्वीराज का सामन्त मानना ही उचित है तथा वर्तमान पृथ्वीराज रासो में कुछ कृति पुरातन अर्थात् चंद की अवश्य है यह मानना भी अनिवार्य है।

३. आल्हा और ऊदल चरित्र:—

यह हिन्दी साहित्य का अपने समय का सबसे प्रसिद्ध मुक्तक काव्य है अतः इसे प्रबंध काव्य न कह कर मुक्तक अर्थात् वीर

गीत ही कहते हैं। आज भी समस्त उत्तरीय भारत में इस 'आल्हा' के गाने वाले पाये जाते हैं। यद्यपि यह आज अपने मूल रूप से पूर्णतया बदल चुका है, फिर भी अपना मूल्य रखता है। जो रचना कई सौ वर्षों से लोगों में बराबर गाई जाती रही हो, उसकी भाषा अपने मूल रूप में रह नहीं सकती। इसे आल्हाखण्ड भी कहते हैं।

इसके आरम्भ के रचयिता 'जगनिक' थे। परन्तु जगनिक के आल्हा का आज कहीं पता नहीं। इसमें भाषा के साथ-साथ समय के प्रभाव से कथावस्तु में भी परिवर्तन हो गया है। पर कुछ भी हो यह तो निश्चित है कि जगनिक के वीर गीत अपने समय में भी बहुत ही प्रचलित होंगे और यही कारण है कि आज पूर्णतया बदल जाने पर भी अपनी अमिट छाप उत्तरी भारत के गाँवों में विशेष कर लगा रक्खी है। साथ में यह भी अनुमान किया जाता है कि आल्हाखण्ड जगनिक के उस काव्य का अङ्ग हो जो उसने परिमाल की वीरता का बखान करने के लिये लिखा था, मूल रूप में इसका विस्तार क्या था यह कहना कठिन है।

जगनिक

ये जाति के भाट थे। कालिंजर नरेश राजा परिमाल के दरबार के प्रमुख कवि थे। जगनिक ने वीर मुक्तक गीतों के रूप में हिन्दी साहित्य का आल्हा ऊदल नामक एक अपने ढंग का अनुपम ग्रन्थ लिखा। यह ग्रन्थ न केवल अपने समय में ही प्रसिद्ध था—अपितु आज भी समस्त उत्तरी भारत में इसका बोल बाला है। जगनिक का आल्हाखण्ड या परिमाल रासो (सम्भव है वह प्रबन्ध काव्य हो) हम तक अपने मूल रूप में नहीं पहुँचे अतः यह कहना कठिन है कि जगनिक किस कोटि का कवि था। वर्तमान आल्हाखण्ड के आधार पर हम इतना कह सकते हैं कि वीर रस

वर्णन में उसकी अपूर्व शक्ति थी तथा उसके अनुकूल उसने अपना नया छन्द भी गढ़ लिया था।

४. वीसल देव रासो

यह भी एक मुक्तक काव्य है और 'नरपति नाल्ह' की कृति बताई जाती है। यह कवि वीसल देव का समकालीन अर्थात् १२२० के लगभग का ज्ञात होता है। यह रासो भी लगभग १०० पृष्ठों का एक छोटा सा ग्रन्थ चार सर्गों में लिखा हुआ है। इस की भाषा साहित्यिक नहीं है। इसमें राजस्थानी भाषा का पुट अधिक है। कुछ अरबी-फारसी तुर्की आदि के शब्द भी मिलते हैं। इन कारणों से हम यह नहीं कह सकते कि यह पुस्तक हमें अपने मूल रूप में प्राप्त है।

खुसरो

खुसरो का समय महाराज पृथ्वीराज के ९० वर्ष पीछे अर्थात् सं० १३४० के लगभग माना जाता है। खालिक वारी के (एक पद्यात्मक कोष जिसमें फारसी के शब्दों का हिन्दी में अनुवाद दिया है) रचयिता ये ही थे। हम भक्ति काल में चल कर देखेंगे कि सन्त कवियों ने हिन्दू मुसलिम धार्मिक भेद भाव कम करके एकता स्थापन का प्रयत्न किया इसी प्रकार खुसरो ने फारसी तथा हिन्दी के बीच एकता का उद्योग किया। इनकी कुछ रचनाओं में फारसी और हिन्दी (खड़ी बोली जो देहली और उसके आस पास की भाषा थी) का मेल पाया जाता है। इन्होंने कुछ पहेलियाँ भी लिखी जो केवल हिन्दी (खड़ी बोली) में हैं। (उन में कितनी इन की हैं और कितनी इनके नाम के साथ जोड़ दी गई हैं यह विषयान्तर हैं) अत एव ये खड़ी बोली के प्रथम कवि हैं। इन्होंने हिन्दी में मसनवियाँ भी लिखी थीं। फारसी की कविता में तो ये सिद्ध हस्त थे ही। पहेली तथा मसनवी मुक्तक काव्य

श्रेणी में आते हैं। उन्हें फुटकल कविता भी कह सकते हैं। मुसलमान होते हुए भी उस काल में इन का हिन्दी प्रेम प्रशंसनीय है।

यहाँ एक बात यह अवश्य याद रखें कि खड़ी बोली पश्चिमी हिन्दी का एक रूप था जो देहली और उसके आस पास बोली जाती थी। अमीर खुसरो की कविता इसका प्रमाण है। बाद में इसी खड़ी बोली में फारसी और अरबी शब्दों की भरमार कर कर उसे उर्दू नाम दिया गया। खड़ी बोली उर्दू से निकली इस मत का उपरोक्त प्रमाण से खण्डन हो जाता है।

नोट—

वीरगाथा काल की समाप्ति तक प्राचीन हिन्दी का दो तीन रूपों में विकास हो चुका था।

१. ब्रजभाषा के रूप में (मथुरा के आस पास तथा राजसभाओं में राजपूताना और देहली में भी)।

२. देश के पूर्व में-अवधी के रूप में।

यद्यपि ब्रज और अवधी की उत्पत्ति भिन्न-भिन्न अपभ्रंशों से है परन्तु दोनों का स्वरूप इतना मिलता जुलता है कि दोनों का एक साधारण नाम हिन्दी से ही उल्लेख करना युक्ति संगत है। उनकी मूल सामग्री एक ही है। प्रान्तीय भेद भाषाओं के वर्गीकरण में बहुत थोड़ा महत्त्व रखते हैं।

३. खड़ी बोली

(मेरठ, देहली और उनके आस पास के प्रदेश में खड़ी बोली) (जो भाषा तत्त्वशास्त्र के आधार पर हिन्दी का ही तीसरा रूप है) व्यवहृत होती थी। परन्तु यह ध्यान रहे कि लेख भाषा

इस प्रान्त की भी व्रज ही थी। खड़ी बोली का प्रयोग केवल खुसरो ने ही किया था।

उपर्युक्त लिखने का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि हिन्दी का विकास उपर्युक्त तीन रूपों में ही हुआ। ग्रामीण हिन्दी के न्यून से न्यून आठ भेद हैं। ऊपर तीन रूप दिखाने का तात्पर्य यह है कि हिन्दी के साहित्यिक रूप केवल तीन ही थे और तीन ही रहे। इन तीनों में भी खड़ी बोली वर्तमानकाल से पूर्व पिछड़ी रही। साहित्य में बोल बाला, व्रज का प्रथम से ही था, और अवधी का प्रयोग पूर्व में भक्ति काल से आख्यान साहित्य के लिये हुआ।

इनके अतिरिक्त राजस्थान में एक और भाषा में साहित्य लिखा जाता था जिसे डिंगल कहते थे। डिंगल का तात्पर्य है प्राचीन राजस्थानी। डिंगल नाम का महत्त्व इतना ही है कि देशी भाषा को उस समय पिंगल कहते थे, उसकी तुलना में राजस्थानी कवियों ने अपनी भाषा को डिंगल कहना उपयुक्त समझा। डिंगल शब्द डित्थ, डवित्थ के समान द्रव्यार्थक है।

इस काल के प्राचीन हिन्दी के उदाहरण

१. चंद की हिन्दी, यथा

हिन्दुवानन्थान उत्तम सुदेस। तहँ उदितद्रुग्ग दिल्ली सुदेस।
संभरि-नरेस चहुआन थान। प्रथिराज तहां राजंत भान।

२. खुसरो की भाषा

एक नार ने अचरज किया। सांपि मारि पिंजरे में दिया।
जों जों सांप ताल को खाए। सूखे ताल सांप मर जाए॥

इस प्रवचन में चन्द, खुसरो तथा विद्यापति विशेषतया याद रखने चाहियें।

भक्ति काल—१३७५ से १७०० सं० तक

चौथा प्रवचन

हम्मीर देव के पतन के बाद मुसलमानों का आधिपत्य देश पर जम गया। राजपूताने में एक दो राज्य ऐसे थे जिन्होंने उनके प्रभुत्व को स्वीकार न किया था। इस समय का मैप (चित्र) भी स्पष्ट बताता है कि भारतवर्ष पूर्ण रूप से स्वतंत्रता खो चुका था और देश में यवनों का बोल बाला था।

यद्यपि देश की गिरी हुई अवस्था का दिग्दर्शन वीर गाथा काल में कराया जा चुका है, परन्तु यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि चाहे पाखंडी लोग समाज को कुमार्ग की ओर लेजा रहे हों, परन्तु शास्त्रीय पद्धति से भी धर्म के तत्त्वों का प्रतिपादन होता रहा, और संस्कृत के विद्वान् और आचार्य्य भक्ति के लिए ऐसा मार्ग खोजते रहे जिसका आश्रय पाकर हिन्दी कवियों की प्रतिभा चमक उठी। पथभ्रष्ट हिन्दू समाज को संत कवियों की वाणी में आशा और संतोष की झलक दिखाई दी। अपिच, राजनैतिक परिस्थिति भी ऐसी हो गई थी, कि जनता की दृष्टि दीनोद्धारक परमात्मा की ओर हठात् जा लगी। समय की पुकार के अनुकूल देश के कोने-कोने से भक्ति के प्रचार का स्रोत उमड़ पड़ा, जिस में विदेशियों से पददलित समाज को शान्ति से श्वास लेने के लिए अवसर मिला। यद्यपि हिंदी साहित्य में भक्ति का स्वरूप संस्कृत की पद्धति से कई अंशों में पृथक है परन्तु उसका आधार संस्कृत दर्शन शास्त्र तथा उनके भाष्य ही हैं। अतः हिन्दी के भक्ति-साहित्य को समझने के लिए संस्कृत प्रणाली का दिग्दर्शन करना अनिवार्य है। परीक्षा के लिए नहीं।

हिंदू समाज के संस्कृत साहित्य में पहिले-पहल भक्ति कब आई यह अन्य विषय है। बहुत प्राचीन काल में ही हमारे ऋषियों ने ज्ञान, कर्म और भक्ति के समन्वय का रहस्य समझ लिया था। ब्राह्मण ग्रन्थों से, दर्शन शास्त्रों से, धर्म शास्त्रों से तथा भगवद्गीता आदि पुस्तकों से इस मत की खूब पुष्टि होती है। ईश्वर, जीव प्रकृति तथा ब्रह्म के वर्णनों से सारा संस्कृतसाहित्य भरा हुआ है। संस्कृत धर्म-शास्त्रों में दो मार्ग अथवा दो अवस्था बड़ा स्पष्ट रीति से प्रतिपादित है :—

१. सांसारिक अवस्था

२. पारमार्थिक सत्ता या अवस्था

पारमार्थिक अवस्था में—"एकं ब्रह्म द्वितीयं नेह नानास्ति किंचन" सिद्धान्त को माना है। ब्रह्म एक अनिर्वचनीय, निरंजन निर्गुण, निर्विकार तथा ज्ञानस्वरूप स्वीकार किया है जो अनादि है, अनन्त है तथा स्वत: प्रकाश और चैतन्य रूप है, और दृश्यमान, अदृश्यमान मूर्त्त, अमूर्त्त समस्त जगत् ज्ञानरूपब्रह्म ही है, अर्थात् सबका अधिष्ठान ब्रह्म है। सांसारिक अवस्था को जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति त्रिधात्मक बतलाया है। (सांसारिकावस्था को हम मिथ्यानहीं कहना चाहते क्योंकि वह एक पक्ष है) इस संसारावस्था में आकर ब्रह्म से पृथक् जीव, ईश्वर, प्रकृति इत्यादि पाँच पदार्थ और सिद्ध हो जाते हैं। परन्तु उपर्युक्त कथनानुसार अन्ततोगत्वा तुर्यावस्था ही परमावस्था है, वह ही ब्राह्मी स्थिति है और उसकी अधिगति अर्थात् ब्रह्मनिर्वाण प्राप्ति ही सांसारिक जीवन का परम उद्देश्य है। इन सब का वर्णन ही वेदान्त आदि दर्शन शास्त्रों का विषय है। नैयायिक मत में ईश्वर ज्ञानाधिकरण है, ज्ञानरूप नहीं।

परन्तु वेदान्त के अनुसार भी सगुण ब्रह्म यानी ईश्वर के ज्ञान से निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है। प्रमाण प्रमेय रूप समस्त

शास्त्र का आरम्भ इसी के लिए तो है। भक्ति भावना में लीन होकर बहुत से महानुभावों ने मुक्ति का एक दूसरा रूप भी मान लिया है, अर्थात् ऐसी अवस्था की भी मुक्ति कहा है जिसमें भक्त बैठा हुआ भगवच्छवि का रसपान करता है। (पहली भक्ति ज्ञानियों की भक्ति है, जिसके अनुसार आत्मा और परमात्मा का तादात्म्य है)

भगवान् शङ्कर के मत में 'ब्रह्म' सत्य है और त्रिधात्मक जगत् का उसमें भान अज्ञान के कारण अन्धकार दोष से रज्जु में सर्प भ्रांति के समान भ्रान्त है। तात्पर्य यह है कि उनके मत में ईश्वर तथा तत्कृत जगत् स्वीकृत होने पर भी उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं। अत: शङ्कर मत में ईश्वर भक्ति के लिए बहुत कम स्थान है। परन्तु भगवान् शंकर के बाद श्रीरामानुज, मध्वाचार्य्य निम्बार्काचार्य, श्री रामानन्द, श्री वल्लभाचार्य तथा विट्ठलनाथ जी जैसे अनेक महात्मा हुए जिनके विशिष्टाद्वैत में, द्वैत में, शुद्धाद्वैत तथा पुष्टिमार्ग में भक्तिको पूर्णरूप से अवकाश मिलता है। इन्हीं आचार्यों की वर्णित पद्धति के आधार पर संत कवियों ने अपने नूतन विशाल भक्तिमन्दिर का शिला रोपण किया।

किञ्च, अवसर वाद भी संस्कृत-साहित्य में भली प्रकार स्वीकृत हो चुका था। इसके अनुसार जब जब संसार में पाप की वृद्धि होती है और धर्म दबता है तब तब बैकुण्ठ अथवा गोलोकवासी प्रकृति के स्वामी भगवान् विष्णु, अपनी इच्छा से, कर्मवासना से असंस्पृष्ट मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र के अथवा व्रज विहारी नन्द नन्दन गोपीश्वर श्रीकृष्णचन्द्र के रूप में जन्म लेते हैं। गोलोकवासी भगवान अपने मित्रमंडल को भी अपने साथ भूतल पर ले आते हैं। अथवा पहिले से भेज देते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में मीन आदि के रूप में जिसका निर्देश गीतगोविन्द में जयदेव ने "प्रलय पयोधिजले धृतवानसिवेदम्" इत्यादि वाक्यों

में किया है, भगवान् का अवतार होता है, अर्थात् वह निर्गुण, निर्विकार, औपनिषदिक पुरुष (जिसका उपनिषदों में "नेति-नेति द्वारा वर्णन है) सगुण रूप धारण कर के पुण्यधाम भारतवर्ष में किसी भूतपूर्व तपस्वी के घर जन्म लेकर असाधुओं का नाश और साधुओं की रक्षा करते हैं। अन्त में अपनी मानुषी लीला को समेट कर पुनः पुण्यधाम बैकुण्ठ को लौट जाते हैं। भक्तजन अपने इष्टदेव की लीला का वर्णन करते हैं और सुनते हैं। उनकी मनसा कल्पित मनोहर मूर्त्ति देवालय में तथा हृदय-मन्दिर में स्थापना करते हैं और उसका पूजन करते हैं। चरणोदक पान करते हैं, जिसे श्रद्धया पीकर पुनर्जन्म से मुक्त होते हैं। संसारावस्था में अद्वैत और विशुद्धाद्वैत में भी निर्गुण ब्रह्म को सगुण मानना पड़ेगा परमार्थावस्था तो भिन्न है ही।

संस्कृत साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि तीर्थों का महत्त्व भी हिन्दू-समाज बहुत पूर्व से मान चुका था। उस सिद्धांत से भी भक्ति भावना को बड़ा प्रोत्साहन मिला। संक्षेप में कहने का तात्पर्य यह है कि सगुण-निर्गुण द्विधा भक्ति संस्कृत-साहित्य में पहले से थी और उसी का सहारा लेकर वीरगाथा काल के अनन्तर हिंदी का भक्ति-साहित्य अपने भक्ति-युग में अपनी मौलिकता लिये हुए विकसित हुआ। इसके उत्थान के कारण हिंदी साहित्य की मांग तथा जैसा ऊपर कहा जा चुका है, देश की राजनैतिक तथा सामाजिक अवस्थाएँ थीं। इस समय के प्रचारकों में कुछ सहृदय मुसलमान भी सम्मिलित थे। उन्होंने भी हिन्दू विद्वानों के सत्संग के प्रभाव के कारण भक्ति के बड़े अनूठे राग अलापे। कुछ उन पर अपने मुसलमानी मत एकेश्वरवाद का प्रभाव था, कुछ सूफी मत का जो सारी दुनिया को खुदा का ही रूप समझते थे असर था। (हिन्दी साहित्य में भक्ति की मौलिकता स्पष्ट कर देनी चाहिए)

अतः स्पष्ट हुआ कि हिंदी साहित्य के भक्ति युग में भक्ति की दो प्रधान धाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

१. निर्गुण भक्तिधारा—जिसे ज्ञानाश्रय मार्ग भी कहते हैं।

२. और सगुण धारा जिसे सगुण भक्ति मार्ग भी कहते हैं। इनमें से कौनसी धारा का प्रचार पहिले हुआ यह कहना कठिन है। कोई संत एक पद्धति को लेकर चला तो कोई दूसरी को लेकर। कोई एक से चलकर दूसरी पर आ गया। परन्तु इतना मानने में संकोच नहीं होना चाहिए कि मुसलमानों के आजाने के कारण, उनकी मन्दिरों में घुस कर मूर्ति भंग करने की कुचेष्टा के कारण, मूर्त्तियों की अशक्तता देखने से तथा नाथ पंथी साधुओं के प्रचार के कारण जनता का झुकाव निर्गुण धारा की ओर अधिक था। हिन्दी साहित्य के भक्ति काल के प्रारम्भ में मुसलमानों के कट्टरपन के कारण सगुण धारा दबी सी प्रतीत होती है। इसी लिए हिन्दी साहित्य के इतिहासों में निर्गुण धारा का वर्णन पहले करते हैं। बाबर जैसे विचारशील बादशाहों के काल में सगुण, निर्गुण दोनों धाराएँ बराबर बराबर चलीं। इतना ही नहीं सगुण धारा जिसमें भक्त को जल्दी संतोष मिल जाता है विशेष रूप से प्रचारित हुई और निर्गुण और सगुण भक्ति के अतिरिक्त एक और तीसरी शाखा का वर्णन भी जिसे प्रेममार्गी शाखा कहते हैं—भक्ति युग में आता है। प्रेममार्गी शाखा मुसलमान सूफी कवियों की देन है। इसका विस्तृत वर्णन उर्दू साहित्य में सूफी मत में पढ़ना चाहिए। हिन्दी साहित्य में प्रेम-मार्गी शाखा से क्या अभिप्राय है, यह उचित स्थान पर बताया जायगा।

अन्त में यह लिखना आवश्यक प्रतीत होता है कि हिन्दू-समाज पर सन्त अथवा भक्त कवियों की अपार कृपा है। यदि ये महानुभाव न होते तो 'नाथों, 'सिद्धों' तथा मुसलमानों के

आगमन के कारण हिन्दू समाज की क्या दशा होती कोई कह नहीं सकता।

पाँचवाँ प्रवचन

निर्गुण भक्ति और उसके प्रतिनिधि कवि

यह हम भक्ति काल के सामान्य परिचय में कह आए हैं कि मुसलमानों के इस देश में आ जाने पर तथा उनकी प्रारम्भिक धार्मिक कट्टरपन के कारण हिन्दू समाज के धार्मिक जीवन में भी एक नई परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी। हिन्दुओं ने समझ लिया था कि मुसलमानों को देश से निकालना असम्भव है और मुसलमानों ने समझ लिया था कि हिन्दुओं के साथ भारतवर्ष में बसना है और यथासम्भव उन्हीं जैसी धार्मिक व्यवस्था का अनुसरण करना है। इसी दोनों ओर की सद्भावना का यह परिणाम था कि भक्तिकाल के प्रारम्भिक युग में निर्गुण भक्ति का प्रचार अग्रसर हुआ।

इस शाखा की विशेषताएँ अनेक हैं। परन्तु सबसे पहले हमें यह देखना है कि इस शाखा के प्रतिनिधि कवियों की ईश्वर के प्रति क्या भावना थी। इन के मत में ईश्वर एक है; निराकार निर्गुण तथा सर्वशक्तिमान है। घट-घट में व्याप्त है। उसे कहीं जाकर खोजने की आवश्यकता नहीं है। न उसके साक्षात्कार के लिए मन्दिर में जाने की आवश्यकता है, न उनको सन्तुष्टि के लिए मूर्ति की कल्पना करके पूजा करने की आवश्यकता है। बाह्य दिखावटी आचार-विचार से परमेश्वर की प्राप्ति नहीं होती। पण्डित और मौलवी उसके एजेण्ट नहीं हो सकते। उनका विश्वास था कि यदि हृदय में उस अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड नायक, अशरणशरण प्रभु का जप किया जाये और संसार की प्रत्येक वस्तु में उसक

आभास देखा जाय तो उसकी प्राप्ति हो सकती है। ऐसा ब्रह्म सन्त कवियों का निर्गुण ब्रह्म है। अभाव रूप नहीं। वह घट-घट में बसता है। पद-पद पर लक्षित होता है। यद्यपि उसका कोई रूप नहीं परन्तु कोई रूप उससे बाहिर भी नहीं। वह राम, कृष्ण, नृसिंहादि से सबसे बड़ा है। अपार है अगोचर है इसलिए निर्गुण है। वह मुसलमानों के खुदा के समान पृथक् वस्तु नहीं। जीव उसका अंश है। जड़ चेतन सब में उसका प्रतिबिम्ब मौजूद है और वह फिर भी निर्गुण और निर्विकार है। सन्त कवि भगवान् के गुणमय शरीर की कल्पना इसलिए नहीं करते थे कि ऐसा करने से भगवान् को सीमित करना है। इसलिए निर्गुण कहते थे। निर्गुण का तात्पर्य गुण शून्य नहीं था। उपनिषदों का ब्रह्म तो दूसरी ही बात है सन्त कवियों ने जन साधारण के लिए उसे सब में मौजूद कहा सब रूप नहीं कहा।

उपर्युक्त कथनानुसार निर्गुण कवियों का ईश्वर निराकार और निर्विकार तथा एक था, परन्तु उसके साथ-साथ इन्होंने उसमें करुणा आदि भावों की भी कल्पना की थी। अतः सिद्धांत रूप से एक और निराकार होते हुए भी भक्ति के लिए उसको उपाधि विशिष्ट मानते थे, क्योंकि उपाधिरहित की उपासना सम्भव नहीं। निर्गुण शाखा में भी ब्रह्म, जीव, माया इत्यादि पदार्थों की स्वीकृति सुसंगत है। उनकी इस विचार धारा का आधार वेदान्त दर्शन आदि ही प्रतीत होते हैं। हाँ निर्गुण कवियों का तर्क एक ओर सूफी कवियों से (जो अस्पष्ट अतएव अग्राह्य) भिन्न है और दूसरी ओर उस सनातनदर्शन पद्धति से जो 'जन्माद्यस्ययतः' को ब्रह्म का तटस्थ लक्षण उद्घोषित करती है से भी भिन्न है। सन्तकवि हृदयाकाश में उसके साक्षात्कार के लिए मन के रागादि दोष के दूर करने को तथा चित्त शुद्धि और मनः शुद्धि को उसके दर्शन की प्रागवस्था मानते हैं। और तत्त्वज्ञान द्वारा माया का नाश कर

पुनर्जन्म से मुक्ति जो सहजभाव से "एकमेव ह्वै मिलि रह्या" रूप है, स्वीकार करते थे। अर्थात् परमात्मा के अनुग्रह से, उसकी भक्ति तथा जाप से नटिनी माया का नाश हो सकता है और माया नाश होने पर परमेश्वर जो सद्गुरु रूप में भीतर बैठा है उसके साथ सहज मिलन हो जाता है। ब्रह्म से संसार का उदय और उसमें ही प्रलय बताना जनसाधारण की बुद्धि से बाहिर की बात है।

इस शाखा की अन्य विशेषताएँ

इन कवियों की कविताओं में सत्संग और गुरु महिमा पर विशेष बल दिया गया है। गुरु जो सन्मार्ग प्रदर्शक होता है तथा इश्वर से मिलाने वाला माना जाता है उसकी महिमा ईश्वर से भी बढ़कर है। जो ज्ञाम शास्त्राध्ययन से बड़ी कठिनता से मिलता है वह सत्संग तथा गुरु कृपा से बहुत शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है। वे परमेश्वर को भी कभी गुरु या सद्गुरु कहकर निर्दिष्ट करते थे।

इस धारा के कवि जाति-पाँति में विश्वास नहीं रखते थे। तीर्थों का महत्त्व भी स्वीकार नहीं करते थे। गुणों को पूजा स्थान मानते थे न कि गुणरहित जड़ स्थानों को। मूर्ति पूजा के सर्वथा विरोधी थे, अवतारवाद इन्हें स्वीकृत न था और रूढ़ियों के कट्टर शत्रु थे। हिन्दु और मुसलमानों में ऐक्य स्थापन की भावना इनमें प्रबल थी। ध्यान और योग के द्वारा निराकार परमेश्वर की ओर लगन लगा कर और उसमें प्रेम का पुट देकर ये उपर्युक्त मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा रखते थे।।

समाज सेवा, समाज सुधार, हृदय की शुद्धि इनके विश्वास के मुख्य अंग थे। जप, तप, तीर्थ, माला, तिलक आदि को माया का रूप मान कर इनका विरोध करते थे और इन्हें परम-ब्रह्म परमेश्वर के यथार्थ रूप समझने में बाधक और अत-

एव उससे दूर ले जाने वाली वस्तु कहते थे। (उपनिषद् का ज्ञान इससे गहरा। वहाँ पूर्ण समन्वय वाद है।)

भक्ति की यह निर्गुण धारा समस्त उत्तरी भारत में फैल गई थी और भक्तिकाल में साहित्य का केन्द्र भी देश का पूर्व भाग बन रहा था। (धीरे-धीरे अवधी भाषा विकास के मार्ग पर चल पड़ी थी) निर्गुण धारा के प्रतिनिधि कवि अधो-लिखित हैं:—

कबीर, धर्मदास, गुरुनानक, दादूदयाल, सुन्दरदास, अक्षर अनन्य, मलूकदास तथा रैदास।

यद्यपि उपर्युक्त महात्माओं की कृतियाँ साहित्य की कोटि में नहीं आती क्योंकि वे धार्मिक और साम्प्रदायिक रंग में रंगी हुई हैं और मानव जीवन की लौकिक भावनाओं पर प्रकाश डालने वाली नहीं तथापि उनकी कुछ बाणियों को साहित्य में भूल नहीं सकते।

कबीर

इनसे पहिले नामदेव (गुजरात के एक दर्जी) का नाम आता है। परन्तु वे पहिले सगुणोपासक थे बाद में निर्गुण के मानने वाले बने। अतः महात्मा कबीर ही निर्गुण धारा के परम प्रसिद्ध कवि माने जाते हैं।

इतिहासज्ञों का कथन है कि महात्मा कबीर का जन्म १४५६ में और मृत्यु १५७५ में हुइ। जनश्रुति ऐसी है कि इनका जन्म एक विधवा ब्राह्मणी के उदर से हुआ जो इन्हें उत्पन्न होते ही एक तालाब पर फेंक गई। एक निःसन्तान मुसलमान ने इन्हें उठा लिया। उसके घर इनका पालन पोषण हुआ। इनके पालक मुसलमान पिता मगहर के रहने वाले थे परन्तु कबीर काशी में आकर बस गये थे। इनकी मृत्यु मगहर में ही हुई। श्रीरामानन्द इनके गुरु थे। और इनके शिष्य धर्मदास ने इनकी मृत्यु के बाद

छत्तीसगढ़ में कबीरपन्थ का उद्‌घाटन किया और एक दूसरे शिष्य काशी वाली गद्‌दी पर बैठे।

कबीर ने विद्यार्थी बनकर शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया था परन्तु सुन-सुना कर वेदान्त उपनिषद् और पुराणों का अच्छा ज्ञान इकट्ठा कर लिया था। नाथ साधुओं के मिलने जुलने से उनका योग का ज्ञान भी प्रशंसनीय था। षट्चक्र, इंगला, पिंगला आदि का ये अपने प्रवचनों में बड़ा प्रयोग करते थे। नाथपंथी साधुओं से तथा कोरे ज्ञानियों से इनमें यह विशेषता थी कि इन्होंने भक्ति मार्ग का भी आश्रय लिया था। ये भक्त थे और भक्तों के दास थे। सरल जीवन के पक्षपाती थे और आडम्बर से घृणा करते थे। चाहे इनकी भाषा इतनी सुन्दर न हो, चाहे इनके छन्द पिंगल की कसौटी से ठीक न उतरें परन्तु वे सच्चे हृदय के उद्‌गार हैं और एक निर्भीक मनुष्य का कथन हैं। यह हम मानते हैं कि इनकी भाषा में ब्रज और अवधी के अतिरिक्त फारसी अरबी तथा और भाषाओं के भी शब्द हैं। परन्तु यह इनकी कविता का भूषण है दूषण नहीं। अपने मौलिक तथा हृदय से उठते हुए भावों को शब्द विशेष के खोजने के झंझट में पड़कर उसे दबाना और बदलना नहीं जानते थे।

इनकी सभी कविता मुक्तक है जिसे हम आगे चल कर गीति-काव्य कहेंगे। निर्गुणकाव्यधारा की सभी विशेषताएँ इनकी कविता में मिलती हैं। इन्होंने उल्ट वासियों का बड़ा प्रयोग किया है। विद्वान् इन उल्ट वासियों को उनके रहस्यवाद का अंग कहते हैं।

रामानन्द को शिष्य होने पर भी इनका राम ब्रह्म का अपार पर्याय था। इनकी कविता में जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, माया ब्रह्म, जीव इन सब का वर्णन मिलता है। परन्तु सब कुछ मिलकर इनका मत अनोखा मत बन जाता है। इसको समझने का प्रयत्न इस प्रकार करना चाहिये। ये निर्गुण शाखा के कवि

थे। निर्गुण ब्रह्म उपाधि शून्य है, चिदानन्द स्वरूप है तथा नित्य स्थायी अनन्त ज्ञान रूप है। यह होते हुए भी उसके साथ उपास्य उपासक भाव सम्बन्ध बनता है। उसमें गुणों की कल्पना भी सम्भव है अर्थात् उसमें गुणों का आरोप करना निर्गुण सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है। कबीर निर्गुण ब्रह्म मान कर चले, कहीं उसे निर्विकार और निरञ्जन कह दिया, कहीं उसमें गुणों का आधान कर दिया। कभी वेदान्त मार्ग पर चल पड़े और कभी हठयोगियों की पद्धति का अनुसरण किया। महात्मा कबीर के लिए यह सब कुछ सत्य था। यह उनकी अनुभूति का फल था क्योंकि उन्होंने ब्रह्म को साक्षात् कर लिया था परन्तु साधारण लौकिक लोगों के लिए यह रहस्यवाद का भी रहस्यवाद हो जाता है और वादी पक्ष के लिए एक खिचड़ी सी मालूम देती है। परन्तु इसमें कबीर का क्या दोष? इनके मतानुसार ईश्वर और माया भिन्न भिन्न पदार्थ हैं तीसरा पदार्थ माया ग्रस्त जीव है।

यह सत्य है इनकी वाणी में सत्यता है, दृढ़ता है, चित की शुद्धता की ओर पुकार है, माया की प्रबलता का सुझाव है, हिन्दू मुसलमान दोनों धर्मों के बाह्य आडम्बर की निन्दा है।

इनके वचन साखी, रमैनी और शब्द इन तीन रूपों में मिलते हैं। साखियों में इनके सिद्धान्त मिलते हैं और रमैनी तथा शब्द शुद्ध गीतिकाव्य है।

नोट:—उपर्युक्त निर्गुण भक्ति का वर्णन कबीर पर लेख लिखते समय और जोड़ दें।

कविता के उदाहरण किसी पाठ्य पुस्तक से लेलें।

रैदास

इनका जन्म १४८७ के लगभग माना है। ये जाति के चमार थे और काशी में रहते थे। इनके फुटकल पद बहुत मिलते हैं। वैसे कोई ग्रन्थ नहीं मिलता।

धर्मदास

पहिली अवस्था में ये मूर्तिपूजा के प्रेमी तथा तीर्थाटन से प्रेम रखने वाले कहे जाते हैं परन्तु सुनते हैं महात्मा कबीर के उपदेश से प्रभावित होकर सन्त मत में आगए। ये जैसा ऊपर बताया जा चुका है कबीर स्थानापन्न हुए।

गुरुनानक देव

सिक्ख सम्प्रदाय के संस्थापक गुरुनानक देव का जन्म १५२६ में और मृत्यु १५९६ में हुई। ये जाति से खत्री थे और इनके पिता श्री काल्लूचन्द तलवन्डी के निवासी थे। इनका विवाह हो गया था और दुकान चलाने में अपने पिता की सहायता किया करते थे। सांसारिक जीवन से उद्विग्न होकर इन्होंने घर छोड़ दिया और संन्यासी बन गये। इनके काव्य पर कबीर का प्रभाव भली भाँति लक्षित होता है। यद्यपि ये न बहुपठित थे, बहुश्रुत थे परन्तु इनके सरल और सच्चे उपदेशों में वह खिचाव मिलता है जिसको पढ़-कर मन प्रसन्न हो जाता है। यद्यपि इनकी वचनावली पञ्जाबी भाषा में बहुत है परन्तु कुछ हिन्दी के पद्य भी इनकी पवित्र लेखनी से निकले और उसी के नाते उनका यहाँ उल्लेख है। (इनके प्रसिद्ध पद गुरु ग्रन्थ साहिब में एकत्रित किए हैं) इन्होंने भगवान् की भक्ति, जीवन की अनित्यता, सज्जन संगति, संसार की क्षण भंगु-रता आदि पर अनेक पद्य लिखे हैं।

दादूदयाल

इनका जन्म १६०१ में जिला गुजरात में अहमदाबाद नामक ग्राम में हुआ। यह निश्चय नहीं कि ये किस जाति में उत्पन्न हुए थे। कोई इन्हें ब्राह्मण मानता है, कोई इन्हें मोची या धुनिया कहता है। इन पर भी कबीर का प्रभाव सुव्यक्त है। जैसे कबीर पन्थ एक अलग पन्थ है, इसी प्रकार दादूपन्थ भी प्रचिलित है।

दादूपन्थी साधु इकतारे पर भजन गाया करते हैं। इनके वचनों का संग्रह एक लम्बे चौड़े ग्रन्थ में हुआ है। इस भाषा में राजस्थानी का पुट है। इसमें शब्द और साखियाँ मिलती हैं। दादू गुरु की महिमा गाते थे और जाति-पाँति में विश्वास नहीं रखते थे। इनका तर्क मन को पसन्द आने वाला, बुद्धिग्राह्य और सन्तोषप्रद है। प्रतीत होता है इन्हें सत्य की अनुभूति थी और उसी के आधार पर वचन मुख से निकले हैं।

मलूकदास

इनका जन्म १६३० के लगभग और मृत्यु १७३० के लगभग हुई। ये इलाहाबाद जिला के निवासी थे और औरंगजेब के समकालीन थे। 'अजगर करै न चाकरी-पंछी करै न काम' यह प्रसिद्ध दोहा इनका ही बताया जाता है। ये संस्कृत के भी पंडित थे। इन्हें छन्दशास्त्र का ज्ञान था। इनकी भाषा बड़ी परिष्कृत है तथा छन्दः ज्ञान भी निर्दोष है। इन्होंने अपने वचनों में जो अब पुस्तकों के रूप में प्रकट हो गये हैं खूब वैराग्यपूर्ण उपदेश दिये हैं।

सुन्दरदास

निर्गुण कवियों में सुन्दरदास सबसे अधिक संस्कृत के पंडित थे। इनका जन्म सन् १६५३ में दौसा (जयपुर) में हुआ। ये दादू पन्थी महात्मा थे। कहते हैं ६ वर्ष की अवस्था में जब दादू गये तभी ये उनके शिष्य हो गये थे। इनकी भाषा संस्कृत शब्दपूर्ण है और इनके वचन इनके गूढ़ पाण्डित्य के द्योतक हैं। चाहे इनमें कबीर जैसी मौलिकता नहीं परन्तु इनमें कुछ सत्य की अनुभूति की झलक अवश्य है। ये बड़े सुन्दर थे और स्त्री तथा स्त्री चर्चा से दूर भागते थे। इन्हें अण्डबण्ड कविता अच्छी नहीं लगती थी अतएव इनकी रचना अन्य सन्तों की रचनाओं से विशिष्ट तथा भिन्न हैं।

इनके अतिरिक्त निर्गुणधारा के और भी बहुत महात्मा हुए यथा अक्षरअनन्य, धर्मदास, भीखा और पल्टू आदि। इनके वचन भी यत्र-तत्र मिलते हैं जो पढ़ने और सुनने में बड़े सुन्दर हैं, जिनका जीवन पर प्रभाव भी बहुत अच्छा पड़ता है। उन्हें खोजना चाहिए और पढ़ना चाहिए। अन्त में हम यह कहते हैं कि ऐसे सन्तों की परम्परा कभी समाप्त नहीं होती। जिस प्रकार संस्कृत साहित्य में उसका अन्त नहीं हुआ उसी प्रकार हिन्दी साहित्य में भी ऐसे सन्त बराबर चलते आ रहे हैं और चलते रहेंगे। इतिहास की दृष्टि से तो इस शाखा के उपर्युक्त महात्माओं का नाम याद रखना ही पर्याप्त है।

यह तो सिद्ध हो चुका कि कबीर पन्त, दादू पन्थ, सिक्ख-मत - सब एक प्रकार से निर्गुण धारा की शाखाएँ और उप-शाखाएँ हैं परन्तु इन सम्प्रदायों के प्रवर्त्तकों की मृत्यु के थोड़े दिन बाद ही इन सब में बाह्याडम्बर, तीर्थ सेवन की रुचि, अव-तारवाद में विश्वास तथा मूर्त्तिपूजन का आजाना तनिक आश्चर्य पैदा करता है। सिक्खमत यद्यपि जाति भेद नहीं मानता, परन्तु ग्रन्थ साहिब की पूजा यह मत भी ईश्वर के समान करता है। इन मतों के अनुयायी वर्गमत प्रवत्तक संत महात्माओं को ईश्वर का अवतार मान रहे हैं तथा वह पद्धति जिसका आरम्भ में विरोध किया था, इन मतों ने अब अपना ली।

वस्तुत: अब इन मतों का सगुण मत से मौलिक भेद न रहा फिर भी लोक में सगुण निर्गुण दो मत प्रसिद्ध हैं। निर्गुण धारा का इतना लाभ अवश्य देखने में आया कि दबे हुए जन समाज को उठने का अवसर मिला और समय प्रभाव से धीरे-धीरे ऊँच-नीच का भेदभाव स्पर्शास्पर्श-विचार हिन्दू समाज से निकलता जा रहा है। यदि छूत-छात का कट्टरपन दूर हो जाय और पवित्र

आचार-विचार का ध्यान रखते हुए हिन्दू समाज में एकता का भाव और अधिक बढ़ जाये तो इससे समाज का कल्याण ही है।

निर्गुण शाखा के कवियों की कविता के उदाहरण अपनी पुस्तकों में देखो।

छठाँ प्रवचन

प्रेम मार्गी शाखा

यद्यपि निर्गुण शाखा वर्णन के अनन्तर सगुण शाखा का वर्णन प्राप्त है, परन्तु प्रेम मार्ग ज्ञान मार्ग के अधिक समीप है; अर्थात् निर्गुण और प्रेम मार्ग दोनों का मौलिक सिद्धान्त निर्गुण ब्रह्म होने से, प्रेम मार्ग निर्गुण मार्ग की ही उपशाखा बन जाता है, अतः निर्गुण के अनन्तर प्रेम मार्ग का वर्णन प्रसङ्ग प्राप्त ही है।

इतिहास बताता है कि भारतवर्ष पर शक तथा हूण आदि जातियों के आक्रमण हुए, उन्होंने इस देश पर अधिकार भी जमाया, परन्तु कुछ काल के अनन्तर वे हिन्दू समाज में ही मिल जुल गए। भारतवर्ष का वह सौभाग्य दिवस था और वह देश में स्वर्गीय परिस्थिति थी क्योंकि समाज की पाचन शक्ति प्रबल थी। इसके विपरीत जब मुसलमानों के आक्रमण प्रारम्भ हुए तब न यहाँ कोइ शक्तिशाली राजा था, न देश किसी दृढ़ तथा सुचिन्तित नीति पर चल रहा था। राजाओं तथा उनको उपदेश देने वाले ब्राह्मणों का भी पतन हो चुका था। स्वार्थसाधन तथा अर्थलोलुपता में ग्रस्त समाज अपने पुरातन आदर्शों को भूल चुका था और उसमें धार्मिक कट्टरपन दिन प्रतिदिन बढ़ रहा था।

इसके साथ साथ यह भी याद रहे कि मुसलमान जाति एक ऐसी जाति आई जो अपने धर्म पर अन्ध विश्वास रखती थी और अधिक कट्टरपन से परिपूर्ण थी। धर्म का नारा मशाल के

समान इनका पथ प्रदर्शक था। इसलिए यद्यपि मुसलमान यहाँ आए और बसे परन्तु उन्होंने अपनी पृथक् सत्ता को बनाए ही रक्खा। हिन्दू जाति जो यहाँ पर आदिकाल से बसी हुई थी, जो धार्मिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण गवेषणाएँ कर चुकी थी तथा जो एक बड़ी संख्या में होने के कारण अनेक आघात प्रत्याघात सहन कर चुकी थी, अपनी पृथक् स्थिति कैसे खोती! तात्पर्य यह है कि भारतवर्ष में उपर्युक्त दोनों जातियाँ अलग अलग बनी रहकर अपनी अपनी सभ्यता का विकास करने लगीं।

यद्यपि हिन्दू तथा मुसलमान अपने मत पर दृढ़ रहे परन्तु पास बसने और रहने के जो परिणाम होते हैं, उनसे बचना असम्भव था। अत: कालान्तर में दोनों जातियों में यह प्रबल भावना जागृत हुई कि पारस्परिक विरोध जितना दूर हो उतना ही अच्छा। इसी सद्भावना को लेकर सन्त कवि चले थे और इसी भावना से अभिभूत होकर सूफी कवि क्षेत्र में आए।

जैसे प्रत्येक मत अपना इतिहास रखता है इसी प्रकार सूफीमत का भी अपना इतिहास है और उसका संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जता है।

भारतवर्ष में आने से पूर्व सूफी सम्प्रदाय सामान्य मुसलमान धर्म की एक उप-शाखा थी जिसमें सरल जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति विशेष बलवती थी। ऊन का कम्बल ओढ़े रहने के कारण, लोग इन्हें सूफी कहने लगे थे। मुहम्मद साहिब की मृत्यु के दो सौ तीन सौ वर्ष बाद उत्पन्न होने के क़ारण इसलाम से यह थोड़ा पृथक् भी हो चला था। भारतवर्ष के संसर्ग से इसमें और भी परिवर्तन आया। तथाहि

मुसलमानों का खुदा एक है। वह सब कुछ जानने वाला है और सबका मालिक है। उसने संसार रचा, परन्तु इसलामी मत के अनुसार वह निर्गुण और निराकार ही रहा। उसकी कुदरत

ज़र्रे-ज़र्रे में मिलती है, परन्तु वह जगत् से पृथक् वस्तु है। जगत् उसने ऐसे रचा है जैसे दर्जी वस्त्र बनाता है। दर्जी सगुण है परन्तु वह अपनी करामात से निर्गुण है और निराकार है। दर्जी को कपड़े की आवश्यकता है, खुदा अपनी कुदरत से जगत् के निर्माण के लिये 'माद्दा' भी खुद ही पैदा करता है।

भारत के सूफियों ने कुछ अधिक तर्क से काम लिया, कुछ यहाँ के अद्वैतवाद तथा उसमें वर्णित प्रक्रिया से उन्होंने परिचय प्राप्त किया भारतीय परिस्थिति से उनका प्रभावित होना अनिवार्य भी था। फल यह हुआ कि सूफी मत में धीरे-धीरे जड़ चेतन, प्रत्येक पदार्थ को ईश्वर का रूप ही समझने लगे। 'तत्त्वमसि', 'सोऽहम्' 'अद्दं ब्रह्मास्मि' का सिद्धान्त जो इसलाम में कुफ्र है, इस मत ने अपनाया। 'अनलहक़' अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' सूफियों का भी प्रिय वाक्य बना।

सूफियों का खुदा कण-कण में रमा हुआ है और हर चीज में उसी का 'जलवा' कार्य कर रहा है। ऐसा विश्वास होने पर यह स्वयं सिद्ध है कि मोमिन और काफिर में कोई भेद नहीं न किसी को किसी से घृणा करने की आवश्यकता, न किसी को किसी से मात्सर्य रखने की ज़रूरत। सब ही परमात्मा के रूप हैं और सब में वह ही ओत-प्रोत है। (इस भावना से अभिभूत मनुष्य के लिये सारा संसार प्रेम मय है।) वेदान्तियों के समान सूफीमत में यद्यपि मूर्ति ईश्वर नहीं, परन्तु मूर्ति में भी ईश्वर है अत: किसी के लिये मूर्ति भी श्रद्धास्पद है। जगत् का निर्माता, जगत् का पालयिता तथा जगत् का संहर्ता, निर्लेप और निराकार होते हुए भी, सगुण है उपाधि विशिष्ट है, व्यापक है और उपाधि रहित भी है। सूफी मत में इसी कारण से सरसता, उदारता तथा विशदता आदि गुण दृष्टि गोचर होते हैं। अन्त में खुदा के साथ एक होने को यानी खुदा की जात में लीन हो जाने (फ़ना-

फिल्ला) को मानना सूफीमत को भारतीय मतों के निकटतम ले आता है।

कबीर के बहुत वचन 'रहस्यवाद' के हैं, सूफियों के आख्यान और कथानक भी रहस्यवाद हैं, परन्तु दोनों में खासा अन्तर है। कबीर का रहस्यवाद भारतीय दर्शनों पर आश्रित है, कठोर है और दुर्बोध्य भी है। सूफियों का रहस्यवाद माधुर्य्य सम्पन्न है। कबीर आदि की वाणी अक्खड़, अटपटी और असाहित्यिक है, उसमें राम और रहीम की एकता स्थापित करके हिन्दू और मुसलमानों को प्रेम सरिता की ओर खींचने की प्रबल भावना काम कर रही है। प्रेम मार्गी सूफी कवियों की भाषा शुद्ध अवधी है, वह भी विकसित और प्रौढ़ता को पहुँची हुई। सूफ़ियों के छन्द भी प्राय छन्दःशास्त्र के अनुकूल हैं अतः उद्वेग जनक न होकर अविच्छिन्न प्रवाह लिये हुए हैं। किंच, सूफ़ियों ने अपने मत के प्रतिपादन के लिये आख्यान और कथानकों का सहारा लिया, जिनकी कथाएँ बहुत ही सरस हैं।

सूफ़ियों की कथा और आख्यानक रूपक मात्र हैं। प्रत्यक्ष के द्वारा अपरोक्ष वर्णन इन कथाओं का प्रधान विषय है। कथाएँ कभी ऐतिहासिक हैं तथा कभी कल्पित क्योंकि कथानक साधन और अपरोक्षनिर्देश साध्य है।

जिस प्रकार उपन्यासों में एक उत्साह सम्पन्न वीर राजकुमार किसी ऐतिहासिक या कल्पित राजकुमारी के सौंदर्य-गरिमा को किसी प्रकार सुनकर उसकी प्राप्ति की ओर लपकता है वैसे ही साधक गुरु महाराज से आत्मा और परमात्मा के अभेद प्रतिपादक महावाक्य सुनकर (अथवा परमात्मा के अद्भुत रूप का संकेत पाकर) उसके साक्षात् अनुभव की ओर अग्रसर हो जाता है।

जायसी की नायिका पद्मावती के अद्भुत रूप सौन्दर्य का महत्त्व इसलिए है कि उसमें परमेश्वर के रूप सौंदर्य की झलक मिलती है। जायसी की दृष्टि में पद्मावती की कथा स्वतन्त्र रूप-से कोई महत्त्व नहीं रखती अत: उसके कल्पित भाग जायसी के यश को बढ़ाने वाले हैं न कि गिराने वाले।

कहने का अभिप्राय यह है कि सूफ़ियों के वर्णन का ढंग ऐसा विचित्र, सुन्दर तथा नवीनता लिये हुए हैं कि डा० श्यामसुन्दर दास के शब्दों में हमें कहना पड़ता है कि "हमारी दृष्टि लौकिक सीमा से ऊपर उठकर उस ओर जाती हुई दीख पड़ती है जिस ओर ले जाना सूफी कवियों का लक्ष्य है।"

जायसी ने जड़ पदार्थों को भी परमात्मा से संयुक्त और वियुक्त होते अनुभव किया है। संयोग में जड़ प्रकृति भी अपने प्रियतम मिलन के उल्लास में आनन्द मग्न हो एक अनुपम सौन्दर्य धारण करती है वह ही प्रकृति वियुक्तावस्था में प्रहाराहतसर्प के समान तलमला उठती है। (कृष्ण मिलाप से श्री कालिन्दी के समान सारी प्रकृति अपने इष्टदेव के मिलन से आनन्द विभोर हो जाती है)

कबीर यदि एक निर्गुण परमात्मा के उपासक थे, तो सूफी उसे अव्यक्त मानते हुए भी व्यक्त करके पूजते थे। कबीर के वचन :—

"राम मोर पति, मैं राम की बहुरिया"

या

"गाओ री सखि मंगलाचार,
म्हारे घर आए राजा राम भतार"

चाहे सूफी मत के प्रभाव के कारण हों, परन्तु कबीर की भक्ति प्रेममार्ग के प्रभाव से जन्य है यह हम नहीं मानते। कबीर महात्मा थे,

अनुभवी थे, संत थे, भक्त थे तथा परमेश्वर के प्राप्त दर्शन थे अतः उनकी भक्ति का आधार परमेश्वर का साक्षात्कार था। इसी लिए इनकी भक्ति में असंगति प्रतीति होती है। परन्तु किन को? जो श्रद्धारहित हैं उनको। अंत में किसी के शब्दों में हम अवश्य लिख देना चाहते हैं कि भारतीय सूफी मत में हठ योग का प्रभाव तथा प्रतिबिंबवाद आने से (अर्थात् ब्रह्म बिंब है, नामरूपात्मक जगत् उसका प्रतिबिम्ब है) अपने नए ढंग का है। हमारी सम्मति में सूफीमत, इसलाम के विरुद्ध, आर्य हृदय की बगावत का परिणाम है। सूफीमत को हक अद्वैत का रूपांतर तो नहीं मानते परंतु इसे भारतीय वेदांत के निकट और भारत से उपगृहीत अवश्य मानते हैं।

कुतबन

ये विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के मध्य-भाग में शेरशाह के पिता हुसैन शाह के आश्रय में रहते थे। शेख बुरहान इन के गुरु थे। जायसी ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ पद्मावत में इनके लिखे उपाख्यान 'मृगावती' का इस ढंग से नामोल्लेख किया है जिस से सिद्ध होता है कि हिन्दी के सूफ़ी कवियों में सबसे प्रथम स्थान इनका है। उपाख्यानों की गणना प्रबन्ध काव्यों में कर सकते हैं।

'मृगावती' की संक्षिप्त कथा

चन्द्रनगर के राजा गणपतिदेव का पुत्र 'कञ्चनपुर' की राजकुमारी मृगावती को देख कर, उस पर आसक्त हो गया। मृगावती उड़ने की विद्या जानती थी, अत: वह राजकुमारी के सामने से उड़ गई। अनेक कष्ट उठाने पर राजकुमार की अन्त में मृगावती से भेंट हुई। राजकुमार ने मृगावती के अन्वेषण में रुक्मिणी नाम एक और सुन्दरी को अपनी प्रेमिका बना

लिया था। मृगावती की प्राप्ति के अनन्तर दोनों प्रेम से रहने लगीं परन्तु एक दिन राजकुमार एक हाथी से गिरा और मर गया। दोनों सुन्दरियाँ उसके मृत शरीर के साथ सती हो गईं।

नोट:—सूफ़ी कवियों ने अभी भारतीय मोक्ष सिद्धान्त को नहीं अपनाया था अत: उनके आख्यान प्रारम्भिक आख्यान दु:खान्त ही रहे।

मंझन

'मधुमालती' नाम की प्रेम गाथा जिसका स्थान 'पद्मावत' से पहिले और 'मृगावती' के अनन्तर है मंझन की श्रेष्ठ कृति है। इस क्रम में भी पद्मावत ही प्रमाण है। 'मधुमालती' का रचनाकाल १५९७ से पूर्व मानते हैं।

मधुमालती की संक्षिप्त कहानी

सोते हुए मनोहर नाम एक राजकुमार को अप्सराएँ राजकुमारी मधुमालती की चित्रसारी में रख आईं। जागने पर राजकुमार और राजकुमारी दोनों एक दूसरे को देख कर मोहित हो गये। चिरकाल तक मधुरालाप के अनन्तर दोनों फिर सोगये। स्वप्नावस्था में ही अप्सराएँ राजकुमार को फिर उसके घर रख गईं। जगने पर राजकुमार बड़े व्याकुल हुए और उसकी खोज में एक छोटी सी सेना लेकर निकल पड़े। समुद्र यात्रा में सब तित्तर वित्तर हो गये। राजकुमार बच गये और समुद्र किनारे एक प्रेमा नाम सुन्दरी को एक राक्षस के पंजे से छुड़ाया। प्रेमा ने उसे मधुमालती से मिलाया। परन्तु मधुमालती की माता ने जब मधुमालती और मनोहर को अपने महल में देखा, तो शाप देकर मधुमालती को पक्षी बना दिया। उड़ती-उड़ती मधुमालती ताराचंद नाम एक सज्जन के यहाँ जा पहुँची जो उसकी दु:खभरी कहानी सुन कर उसे उसकी माता के

पास ले आया, जिसने अपना शाप लौटा कर उसे फिर मधुमालती बना दिया और सब के प्रयत्न से एक ओर मधुमालती और मनोहर का और दूसरी ओर प्रेमा और ताराचंद का विवाह हो गया। यहाँ नायक के साथ उपनायक की भी कथा बड़े सुन्दर रूप में मिलती है।

जायसी

इनका पूरा नाम मलिक मुहम्मद जायसी था। इनका जन्म सं० १५५० के लगभग अवध प्रांत के जायस नाम कसवे में हुआ। प्रसिद्ध सूफी फ़कीर शेख मोहदी इनके गुरु थे। जायसी एक आँख के काने तथा कुरूप थे परन्तु पहुँचे हुए फ़कीर थे। तीस वर्ष की अवस्था होते ही इन्होंने लिखना प्रारम्भ कर दिया था। इनके प्रसिद्ध ग्रंथ पद्मावत के पढ़ने से ज्ञात होता है कि इनको हिन्दुओं के धर्मग्रंथों का अच्छा ज्ञान था। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि जायसी संस्कृत भाषा और संस्कृत साहित्य के पण्डित थे। पद्मावत की भाषा से प्रतीत होता है कि इन्हें संस्कृत भाषा बिलकुल नहीं आती थी। इनका जो ज्ञान था वह सत्संग द्वारा प्राप्त किया हुआ था। पद्मावत से यह भी ज्ञात होता है कि इन्होंने देश भ्रमण खूब किया था, भारत् के कोने-कोने से इनका परिचय था। पण्डितों और योगियों के सत्संग का भी इन्हें अवश्य सुअवसर प्राप्त हुआ होगा।

सूफी कवियों में इनका स्थान सबसे ऊँचा है और इनके दो ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हैं (१) पद्मावत (२) अखरावट। इनकी एक और तीसरी पुस्तक "आखिरी कलाम" और मिलती हैं। पद्मावत की रचना शेरशाह के काल में हुई प्रतीत होती है क्योंकि शेरशाह स्तवन पद्मावत में बड़े प्रशस्त रूप में मिलता है। पद्मावत कैसा प्रबन्ध काव्य है। इसका प्रेम कथानक साहित्यिक पद्धति के

कितना अनुकूल है, इत्यादि लम्बी चर्चा है । पद्मावत की कथा के दो भाग हैं। पूर्व भाग, जिसमें चित्तौड़ के राजा रत्नसेन को सिंहल की राजकुमारी पद्मावती के रूप और सौन्दर्य की सूचना मिलती है और वह अनेक कष्ट उठा कर सिंहल पहुँचता है तथा अनेक विघ्न बाधा दूर कर पद्मावती के साथ विवाह करता है काल्पनिक है। दूसरा भाग जिसमें अलाहउद्दीन पद्मिनी की प्राप्ति के लिए चित्तौड़ का घेरा डालता है बहुत कुछ ऐतिहासिक है। पद्मावत सुंदर आख्यान हैं। इसकी भाषा शुद्ध ग्रामीण अवधी है, चौपाई और दोहे इसमें खूब मिलते हैं। कथानक विशद है और उसका प्रवाह प्रशंसनीय है पद्मावत जायसी की जानकारी और पाण्डित्य का पूर्ण परिचायक है।

अखरावट में अक्षर क्रम से सूफी सिद्धांतों का निरूपण है। संक्षेप में वेदान्त इसका विषय है।

उसमान

ये जहाँगीर के समकालीन थे। सं० १६१३ में इन्होंने चित्रावली नामक काव्य लिखा जिसकी कहानी सर्वथा कल्पनिक है। परन्तु लिखने का ढङ्ग बिलकुल वही है जो जायसी का।

कहानी की संक्षिप्त कथा

नैपाल के राजा धरनीधर ने शिव की कृपा से सुजान नाम पुत्र पाया। वह एक दिन मृगया करते हुए एक देव की मढ़ी में चला गया। देव ने उसे पास रख लिया। रूप नगर की राजकुमारी चित्रावली के वर्ष गाँठ के उत्सव में देव के साथ सुजान भी गया और देव ने सुजान को राजकुमारी की चित्रसारी में पहुँचा दिया जहाँ वह राजकुमारी का चित्र देखकर उस पर मोहित हो गया। उसने अपना चित्र बना कर वहाँ टाँग दिया। फिर देव उसे

वापिस ले आया। वह राजकुमारी की प्राप्ति के लिये विकल रहने लगा। अपने पिता की राजधानी में भी न रहा।

उधर राजकुमारी ने जब इसका चित्र देखा तो नपुंसकों को जोगी बनाकर राजकुमार के ढूँढने के लिए भेजा अन्त में चित्रावली की प्राप्ति हो जाती है और राजकुमार चित्रावली और कंवलावती के साथ प्रेम पूर्वक नैपाल में रहने लगता है।

जायसी के अनन्तर

वह समय आ गया था जब देश में तुलसीदास जैसे सिद्ध कवियों का जन्म हो चुका था अतः सगुण भक्ति प्रचार के सामने सूफी मत फीका पड़ गया। यद्यपि उसमान जिसका वर्णन ऊपर दिया है तथा और भी एक दो सूफी कवि हुए, परन्तु एक प्रकार से सूफी सम्प्रदाय समाप्त ही हो गया यों तो सं० १७०१ तक चला।

नोट—मुसलमान सूफी कवियों के अनुकरण पर हिन्दू कवियों ने भी आख्यान काव्यों की रचना की, परन्तु यह ध्यान रहे कि उनमें अव्यक्त की ओर संकेत नहीं है। वे केवल पुराण अथवा जन प्रसिद्ध इतिहास के आधार पर अख्यानमात्र हैं। उदाहरण के लिए ढोलामारू, कनक मञ्जरी, चन्द्रकला, नल-दमयन्ती, गुलबुकावली आदि।

सूफी मत यद्यपि भारतीय सम्पर्क से बहुत कुछ बदल गया था। परन्तु जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है इसकी वर्णनशैली भिन्न थी तथा इसके कुछ सिद्धांत भी अपने ही थे अतः भारतीय समाज को अधिक काल तक अपनी ओर आकृष्ट न कर सका। भारतीय समाज में इसके प्रचार के चिह्न भी बहुत कम दृष्टिगोचर होते हैं, अतएव इस मार्ग के लेखक सब के सब मुसलमान हैं। किसी हिन्दू कवि ने इसे अपनी लेखनी का विषय नहीं बनाया।

उदाहरण अपनी पुस्तकों में देखें।

सातवाँ प्रवचन

सगुण भक्ति

यह ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है हिन्दी युग से बहुत पहले भारतीय हिन्दू समाज बहु देवतावाद, अवतारवाद, तीर्थ गौरव, मूर्तिपूजा तथा देवालयों की आवश्यकता स्वीकार कर चुका था। ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की पूजा मन्दिरों में खूब होती थी। जगत् के रचनेवाले परम पिता परमेश्वर के अनेक रूपों की कल्पना करके और उन्हें मूर्त रूप देकर उनका स्तवन और यजन समाज में प्रचलित था। भगवान् विष्णु के अनेक अवतारों की पूजा भी किसी न किसी रूप में हो रही थी। भगवान् राम तथा भगवान् कृष्ण भी जनता के उपास्य देव शताब्दियों पहले से बन चुके थे और जनता के इस विश्वास के आधार पर ही इनको दिव्य प्रकृति मानकर एक विशाल संस्कृत साहित्य की रचना भी हो चुकी थी।

मुसलिम युग के आरम्भ में उनके धार्मिक कट्टरपन के कारण हिन्दू समाज के धार्मिक जीवन को कुछ ठेस अवश्य पहुँची, परन्तु वह बिलकुल दबा नहीं। कारण स्पष्ट है :—हिन्दू समाज ने अपनी सभ्यता के विकास में कभी राजकीय शक्ति का सहारा नहीं लिया। उसका पथ प्रदर्शन प्राचीन काल में जंगल में बसे हुए ऋषि-मुनिजनों के कुटीरों से और मध्यकाल में आचार्यों और गुरुजनों के मठों से होता रहा है। वह क्रम कभी टूटा नहीं अतएव घोर राजनैतिक परिवर्तनों के समय भी हिन्दू समाज का धार्मिक जीवन अविच्छिन्न गति से चलता ही रहा।

समय बीतने पर मुसलमानों का आँधी के समान उमँड़ता हुआ बेग कम हुआ, जब उनके हृदयों में अपने विजित पड़ो-

सियों के लिए सहानुभूति उत्पन्न हुई, जब उन्होंने विचार तथा सहनशीलता से कार्य लेना प्रारम्भ किया तथा जब बाबर और अकबर जैसे उदार बादशाह देहली के सिंहासन पर बैठे और हिन्दू समाज ने धार्मिक क्षेत्र में अधिक स्वातन्त्र्य अनुभव किया तो सगुणोपासना के लिए जनता की दबी हुई अभिलाषा पुनः विशिष्ट मनोबल से सचेत हो उठी। सगुणोपासना की चाह तो किसी न किसी रूप में हर एक को होती है परन्तु साधारण जन, जिन्हें दार्शनिक विचार दुर्बोध होते हैं, सगुण पद्धति के लिए सर्वदा लालायित रहते हैं।

इस काल के सगुण भक्ति के प्रतिनिधि कवियों का यह श्रेय है कि उन्होंने परात् पर, परब्रह्म परमेश्वर का प्रतिबिम्ब अयोद्धा नरेश मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र में तथा नन्द नन्दन चाणूरमर्दन भगवान् श्री कृष्णचन्द्र में देखा। भारत जनता ने—

"यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥

इत्यादि गीता वचन को तथा—

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम्॥

इत्यादि दुर्गासप्तशती के वाक्य को यथार्थ रूप में माना। समय समय पर धर्म तथा मर्यादा की रक्षा के लिए भगवान् विष्णु के यद्यपि अनेक अवतार हुए, परन्तु उनके लोकनायक रूप ने जिसके प्रतीक भगवान् रामचन्द्र थे तथा लोक रञ्जक रूप ने जिसकी दृश्यमान मूर्ति व्रजबिहारी श्री कृष्णचन्द्र थे, इस काल की जनता को अपनी ओर अधिक आकृष्ट किया। इन दोनों दिव्यगुण सम्पन्न महापुरुषों का आश्रय लेकर सगुणोपासना तथा तदाश्रित हिन्दी-साहित्य एक अनोखी छटा के साथ जनता के समक्ष आए। सगुण शाखा के कवि श्री राम और श्री कृष्ण को अनन्त कोटि ब्रह्मा-

खडनायक श्री विष्णु का पूर्ण अवतार ही नहीं मानते हैं अपितु शरीरधारी होते हुए भी निर्गुण, निर्विकार, निर्लेप, अमूर्त तथा माया से परे भी मानते हैं। संक्षेप में अद्वैत वद्वैत के ब्रह्म भी ये थे। जन्माद्यस्ययत: वाले विराट पुरुष भी ये थे। गोलोक वासी राधारमण भी ये थे और रावणान्तक कौशल्यानन्दन भी ये थे इत्यादि इत्यादि। वे भी उपास्य, उनका कुल भी उपास्य तथा उनका जन्म स्थान भी उपास्य। ससगुणोपासक जितनी श्रद्धा श्री राम तथा श्री कृष्ण के लिए रखते हैं उतनी ही उनकी मूर्ति तथा नाम के लिए रखते हैं सगुण भक्ति की अन्य विशेषताएँ तत् तत् सम्प्रदाय की धामिक पुस्तकों में देखें।

इस सगुण भक्ति की दो उपशाखाएँ हुईं

(१) राम भक्ति शाखा (२) कृष्ण भक्ति शाखा

रामभक्ति शाखा

हिन्दी में राम भक्ति शाखा का आविर्भाव १५ वीं शताब्दी में महात्मा रामानन्द द्वारा हुआ। रामोपासना जैसा ऊपर लिखा जा चुका है पहिले भी थी, परन्तु श्री रामानन्द जी ने इसे नया रूप देकर अधिक लोकप्रिय बनाया तथा इसकी परिधि भी विस्तृत कर दी। महात्मा रामानन्द जी श्री रामानुजाचार्य के श्री सम्प्रदाय के अनुयायी थे। परन्तु उनका झुकाव कृष्णोपासना की ओर न रह कर रामोपासना की ओर अधिक हुआ। इन्होंने श्री राम को और उनके कारण उनके भाइयों को अपना इष्ट देव माना। श्री राम की उपासना उन्होंने परमब्रह्म मानकर की। श्री रामानन्द जी भक्ति के क्षेत्र में जाति पांति का भेद नहीं मानते वर्णाश्रम व्यवस्था मानते हुए भी भक्ति के क्षेत्र में उनके लिए ब्राह्मण और शूद्र, मुसलमान और जुलाहे, स्त्री और पुरुष सब बराबर थे। इसी कारण साम्प्रदायिक लोग उन्हें वैष्णव सम्प्रदाय का नहीं मानते।

रामभक्ति का विकास दक्षिण से प्रारम्भ होकर समस्त उत्तर भारत में फैला।

राम-भक्ति शाखा के प्रतिनिधि कवि

तुलसीदास

इनका जन्म युक्त प्रांत सारों के पास एक ग्राम में सं० १५५४ में हुआ। इनके पिता का नाम आत्माराम और माता का नाम हुलसी था। जनश्रुति के आधार पर कहा जाता है कि अभुक्तमूल नक्षत्र में पैदा होने के कारण इनके माता पिता ने इनका परित्याग कर दिया था। इनके दीक्षा गुरु बाबा नरहरि थे और ऐसा अनुमान है कि इनके साथ रहते हुए शेष सनातन जी से इन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया और प्रौढ़ पाण्डित्य जो इनकी पुस्तकों से प्रकट है प्राप्त किया। कहते हैं १५ वर्ष निरन्तर विद्याध्ययन के बाद युवावस्था में स्मार्त्त-वैष्णवों के सम्प्रदाय के अनुसार दीक्षित हो ये घर लौटे।

बाबा नरहरि के पास पहुँचने से पूर्व इनकी बड़ी दीन-हीन अवस्था थी और ऐसा होना अनिवार्य भी था क्योंकि यह परित्यक्त बालक थे। इनका वैवाहिकजीवन अधिक दिवस न चला। कहते हैं इनकी अनुपस्थिति में एक दिन इन की धर्मपत्नी अपने पिता के घर जो गंगा के दूसरे पार पास ही था चली गई। जब ये लौटे और इन्हें यह मालूम हुआ, तो अर्धरात्रि के समय यथा कथञ्चित गंगा पार कर वहाँ ही जा पहुँचे। स्त्री की एक मीठी फटकार सुनकर इनको वैराग्य हो गया और वहाँ से सीधे तीर्थाटन के लिए चल दिये। शेष जीवन इसी प्रकार व्यतीत हुआ अर्थात् वैराग्यावस्था में तीर्थों पर घूमते, पुस्तक लिखते और भजन करते हुए!

इन्होंने छोटे-मोटे लगभग तीस ग्रन्थ लिखे। रामचरित मानस अथवा तुलसी रामायण इनकी अपूर्वकृति है। जिस प्रकार

ऋग्वेदादि के पद्य, पद्य नहीं किन्तु मन्त्र हैं इसी प्रकार रामायण की प्रत्येक चौपाई मन्त्र है। रामायण के प्रारम्भ में गुसाईं तुलसीदास प्रतिज्ञा करते हैं "नाना-पुराण निगमागम संमतं यत्, तदिह रामायणे निगदितम्"

यह प्रतिज्ञा मात्र ही नहीं अक्षरशः सत्य है। इनके अगाध प्रखर पाण्डित्य, गूढ़ दार्शनिक विचार, लौकिक और पारलौकिक ज्ञान, इनकी उदारता और सारग्राहिता अनेक गुणगरिमा देखनी हो तो रामचरित-मानस का अध्ययन करना चाहिए। भयंकर प्रलाप की याद दिलानेवाला यवन चक्र अदम्यरूप में किस प्रकार हिन्दू समाज पर अपना आतङ्क बैठा रहा था, यदि यह मालूम करना हो तो जन-स्थान में राक्षसों के अत्याचार का और लंका में वहाँ के वास्तव्यों के पापाचार का वृत्त रामायण में पढ़ें। यह ही नहीं कि गुसाईं तुलसीदास बुरी बातों का ही चित्र खींचना जानते थे। सुन्दर बातों का तो रामायण मंजूषा है। रामायण के कौन-कौन स्थल क्या क्या सौन्दर्य रखते हैं, रामायण का विशेष महत्त्व क्या है, उसके द्वारा समाज का कितना कल्याण हुआ, हिन्दू-समाज के गार्हस्थ जीवन को सुखमय बनाने की कितनी चेष्टा की इनमें से प्रत्येक विषय ऐसा है कि कितने ही पृष्ठ भरिये समाप्ति नहीं हो सकती। गुसाईं जी की विनयपत्रिका एक अनुभवी शान्त पण्डित की वृद्धावस्था में चित्त वृत्ति की अभिलाषा-मञ्जूषा है। भगवान् के रञ्जक और रक्षक दोनों पक्षों को लिया।

स्वामीजी के विविध भाषा-ज्ञान की चर्चा एक पृथक् ही सुविस्तृत विषय है। इनकी संस्कृत मिश्रित अवधी, शुद्ध अवधी, कोमलकान्त संस्कृतपदावलीसंवलित ब्रजभाषा अपना अनुपम सौन्दर्य रखती है। इनकी वर्णन शक्ति, इनकी काव्य-कला अतुलनीय हैं। साहित्य-शास्त्र स्वीकृत नव रसों पर जो अधिकार गुसाईं जी का था, वह संस्कृत साहित्य तथा हिन्दी साहित्य में

किसी कवि का देखने में नहीं आता। इनकी काव्य रचना का उद्देश्य किसी सांसारिक लाभेच्छा पर आश्रित न था। 'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा' इनकी पतितपावनी कविता जाह्नवी का उद्गम स्थल था।

इनकी भक्ति का वर्णन भी एक पृथक् विषय है उसका आधार भगवत्साक्षात्कार तथा आत्म समर्पण है महात्मा तुलसीदास की कविता के गुण, उनका पक्षपात, उनके विश्वास, उनकी विशेष-विचार-धारा, उनकी काव्य पद्धति, उनकी काव्य कला अपने ही ढंग के थे।

नाभादास

रामभक्ति शाखा के प्रतिनिधि कवियों में महात्मा तुलसीदास इतने विशिष्ट तथा उत्तम लेखक हुए कि अन्य कवियों की ख्याति न हो सकी। नाभादास का 'भक्तमाल' एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। भक्तों के प्रति जनता में बुद्धि पैदा करना इस ग्रन्थ का उद्देश्य है। इसमें आलोचकों के लिए पर्याप्त सामग्री मिल सकती है। नाभादास जी जाति से डोम थे या क्षत्रिय थे यह बात अभी तक संदिग्ध है। इनका जीवनकाल १६०० से १६८० तक माना जाता है।

प्राणचन्द और हृदयराम

इन्होंने नाटकीय शैली में रामकथा कही है। नाटकीय शैली का तात्पर्य है कथोपकथन द्वारा रंगमंच के योग्य बना देना। इसमें सन्देह नहीं कि यह शैली प्रबन्ध काव्यों या मुक्तक काव्यों की शैली से भिन्न है। प्राणचन्द ने १६६७ में रामायण महानाटक लिखा और हृदयराम ने हिन्दी हनुमन्नाटक १६८० में लिखा।

नोट—विश्वनाथसिंह और रघुराजसिंह (रीवाँ नरेश) राम भक्त थे। विश्वनाथ जी ने कितने ही ग्रन्थों की रचना की थी। राम-चंद्रिका (केशवदास कृत) भक्ति का ग्रन्थ नहीं माना जाता। आधुनिक युग में श्री मैथिलीशरण जी ने रघुनाथ यश गाया है।

रामभक्ति के क्रमिक विकास का इतिहास, इतिहास के छात्रों के लिए एक पृथक् विषय बन सकता है। इतना तो याद रखना आवश्यक ही है कि ऋषि वाल्मीकिकृत संस्कृत रामायण में श्रीरामचन्द्र एक मर्यादा पुरुषोत्तम वीर राजकुमार तदनन्तर एक वीर धर्मात्मा नृप हैं। उसी रामायण के आदि काण्ड तथा उत्तर कांड में जो निश्चय रूप से बाद की कृति हैं उन्हें भगवान् विष्णु का आंशिक अवतार माना। फिर तो धीरे-धीरे राम भक्ति का प्रसार बढ़ता गया और रामोपासक सम्प्रदाय अलग ही स्थापित हुआ। इस सम्प्रदाय में श्रीराम विष्णु से भी परे हैं। ये ही श्री तुलसी के उपास्य देव थे।

कृष्ण-भक्ति शाखा

यद्यपि महाभारत के प्रारम्भिक काल में श्रीकृष्ण भी महापुरुष ही हैं परन्तु ऋषि पाणिनि के काल तक कृष्ण भक्ति का प्रचार हो चुका था देखो—'वासुदेवार्जुनाभ्यांवुन् भगवद्गीता ने तो—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

स्वयम् श्रीमुख से कहला कर उन्हें कृष्णास्तु भगवान् स्वयम्' की घोषणा करा दी। इतना ही नहीं जब १८ वीं अध्याय में भगवान् अर्जुन का उत्साह बढ़ाते हुए

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' अन्तिम वाक्य कह देते हैं, तो भक्ति की पराकाष्ठा हो चुकती है। कृष्ण भक्ति

की यह परम्परा भगवतादि धर्मशास्त्रों में दृढ़ से दृढ़तर होती गई है और अन्त में इसके आधार पर अनेक कृष्ण सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ जिनमें कृष्णोपासना के विविध रूप और प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं।

अनेक कृष्ण सम्प्रदायों की चर्चा करना इस छोटे से ग्रन्थ में उचित नहीं परन्तु हिन्दी साहित्य के इस इतिहास में कृष्णभक्त कवियों का उल्लेख करते समय, हम केवल उनका नाम देंगे जिनके द्वारा हिन्दी साहित्य की श्री वृद्धि हुई। यह हम पहिले ही निर्दिष्ट कर चुके हैं कि सब कवि एक सम्प्रदाय के नहीं अर्थात् उनमें साम्प्रदायिक दृष्टि से बड़ा भेद है। उदाहरण के लिये विद्यापति और मीरा की रचनाओं को देखिये और उनकी तुलना सूरदासादि अष्टछाप के कवियों की कृतियों से कीजिये, बड़ा भेद मिलेगा। दृष्टिकोण ही दूसरा है। स्वामी हरिदास और महात्मा हितहरिवंश में भी सम्प्रदायभेद सुलक्षित है। यदि विद्यापति पर निम्बार्क मत की छाप है तो सूरदास पर श्री वल्लभ जी की। हितहरिवंशजी में राधा भक्ति की प्रधानता है।

यहाँ हम एक सम्प्रदाय के कवियों को एक समय लेंगे।

(१) विद्यापति और मीराबाई

विद्यापति

इनका समय जैसा ऊपर बता चुके हैं सम्वत् १४६० के लगभग है। दरभंगा जिले के विसपी नाम ग्राम में सं० १४१७ में इनका जन्म हुआ और १५०७ में मृत्यु। ये संस्कृत के प्रगाढ़ पंडित थे। प्राचीन हिन्दी पर भी इनका अधिकार था। बंगाली यद्यपि इन्हें बंगाल का कवि मानते हैं परन्तु अब यह सिद्ध हो चुका है कि यह बिहारी कवि थे। जिस प्रकार किसी विद्वान् को डाक्टर कहना पर्याप्त है; उसी प्रकार किसी कवि की ख्याति

का वर्णन यदि एक शब्द में करना हो तो उसे कोकिल की पदवी से विभूषित कर दिया जाता है। मैथिल-कोकिल इनके पदवी होने के कारण इनकी कविता और लोकप्रियता का परिचय मिलता है। तिरहुत के राजा शिवसिंह के यहाँ इनका बड़ा मान था। कहते हैं कि एक ग्राम भी इनको पुरस्कार के रूप में मिला था। विद्यापति इनके उच्च कोटि के कवि हैं। इन पर एक बहुत बड़ा निबन्ध लिखा जा सकता है। यहाँ हम इन पर एक लम्बा लेख नहीं लिखना चाहते। इतना लिखना पर्याप्त है कि इन्होंने राधा और कृष्ण की भक्ति में अनेक पद रचे जिन्हे सुन्दर ग्राम वधूटी विवाह आदि शुभ अवसरों पर इनके जीवन काल में ही गाने लगी थीं और आज भी गाती हैं। उनके उन पद्यों का संग्रह विद्यापति की 'पदावली" में प्रकाशित हो चुका है। कितने पद इसमें आए और कितने छूट गए यह कहना कठिन है। इनके पूर्ववर्ती बंगाल भूषण कविवर—'जयदेव' के "गीत-गोविंद" में जो भक्ति का स्रोत मिलता है वह ही पदावली में भी पाया जाता है—इसी कारण विद्यापति को "अभिनव जय देव" भी कहते हैं। इनकी भक्ति में शृंगार का पुट है, यह मानना ही पड़ेगा। हम पहिले ही कह चुके हैं कि इन पर निम्बार्क मत का प्रभाव है। किसी-किसी को इनकी अश्लीलता अखरती है, परन्तु यदि भक्ति के नेत्र से देखा जाय तो वह राधा-कृष्ण की सम्मिलित-भक्ति की तन्मयता को प्रकट करने वाली है। यह अश्लील न होकर भक्त के हृदय का अपने उपास्य देव के लिए मिलन का उन्माद है।

मीराबाई

ये जोधपुर राज्यस्थ मेड़ता के राठौर रत्नसिंह की पुत्री और रावदूदा जी की पौत्री थीं। इनका जन्म सं० १५५५ के लगभग हुआ। विवाह उदयपुर के ज्येष्ठ राजकुमार श्री भोज राज जी के

साथ हुआ। इनको बाल्यकाल से ही पूर्ण कृष्णभक्ति प्राप्त हो चुकी थी। विवाह के थोड़े दिन बाद ही इनके पतिदेव की मृत्यु हो गई। फिर तो पूर्ण रूप से इन्होंने आत्म समर्पण श्री गिरधर गोपाल के चरणों में कर दिया। इनका जीवन वृत्तांत छोटी-छोटी पुस्तकों में भी मिल जाता है; अत: अधिक न लिख कर हम यही कहेंगे कि कृष्ण भक्ति में लीन होकर इन्होंने अच्छे अच्छे पद लिखे जो कि हिन्दी के सुन्दर गीति काव्य है। कुछ महानुभाव इन पर भी आक्षेप करते हैं। वे कहते हैं कि साधु और सन्तों के समक्ष कृष्ण-मूर्ति के सामने इनका नृत्य करना अनुचित था। परन्तु वे इतना भूलते हैं कि वह केवल भक्ति भावना का उद्वेग है। संसार है क्या? प्रकृति देवी का साक्षी जीव के सामने नृत्य ही तो है। इस नृत्य के होते होते यदि किसी प्रकार प्रकृति की दृष्टि पुरुष पर पड़ जाए यही मुक्ति का क्षण है। इन पर भी निम्बार्क मत का प्रभाव स्पष्ट है। अंत में ये घरबार छोड़ कर वृन्दावन चली आईं और वहीं जीवन यात्रा समाप्त कर दीं।

(ii) कृष्ण भक्ति शाखा के अष्ट छापा के आठ कवि थे जिनके नाम अधोलिखित हैं:—

सूरदास, कुम्भनदास, परमानंददास, कृष्णदास, छीत स्वामी, गोविंद स्वामी, चतुर्भुजदास और नंददास।

पहिले चार श्री वल्लभ जी के शिष्य थे और अंतिम चार उनके पुत्र विट्ठल नाथ के। इनमें सबसे प्रसिद्ध महात्मा सूरदास थे।

महात्मा सूरदास

सूर सागर के रचयिता, पुष्टि मार्ग के सुप्रसिद्ध कवि महात्मा सूरदास जी का जन्म सम्वत् १५२९ में सीही ग्राम (देहली के पास) हुआ। ये किसी के मत से सारस्वत ब्राह्मण थे तथा अन्य विद्वानों की सम्मति में चंदबर्दाई के वंशज स्वीकार किए जाते हैं। लोग

इन्हें जन्म से अंधा कहते हैं, हम ऐसा नहीं मानते। इनकी कविता इस बात का प्रमाण है कि ये दृष्टि सम्पन्न थे। भगवान् कृष्ण की उपासना और उनके दर्शन से इन्हें दिव्य चक्षु प्राप्त हुए—जिससे सूर सागर जैसे अनुपम ग्रंथ की रचना की। इस छोटे से हिंदी साहित्य के इतिहास में महात्मा सूरदास पर लिखने की चेष्टा करना उनके साथ अन्याय करना है। यदि भगवान् व्यास कवियों के दादा गुरु हैं तो सूरदास हिंदी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं—देखिये—"सूर सूर तुलसी शशी-उडुगण केशवदास" हमने महात्मा तुलसीदास की काव्य कला की प्रशंसा की है। उनके भाषा ज्ञान का उत्कर्ष भी कहा है; उनकी वर्णन शक्ति को अद्भूत बताया है, परन्तु सूर सूर ही हैं। सूर सागर में श्रीमद्भागवत् के समान १२ अध्याय हैं, परन्तु सूर सागर श्री मद्भागवत् का अनु-वाद नहीं है। सूर की कृति सूर सागर प्रबन्ध काव्य भी नहीं है। बड़ा कितना ही हो हम इसे मुक्तक ही मानते हैं। सूर की स्वयं की भी ऐसी ही इच्छा मालूम पड़ती है। वे भगवान् श्रीकृष्ण का जीवन चरित्र नहीं लिख रहे हैं, अपितु उनकी भक्ति में लीन होकर उनके चरणों पर मंडरा रहें हैं। यह भक्ति का उद्वेग है। वात्सल्य और वियोग का वर्णन जैसा महात्मा सूरदास ने किया है वह संसार के किसी साहित्य में नहीं मिलता। यदि धृष्टता क्षम्य हो तो अनेक घटनाओं की कल्पना करके वात्सल्य और वैराग्य का इतना विशद विवेचन भगवान् वेदव्यास की लेखनी द्वारा भी न हो सका। श्री वल्लभाचार्य की आज्ञा से ये गोर्वधन में भगवान् के मन्दिर में कीर्त्तन कराया करते थे और वहीं ही इन्होंने अपनी जीवन यात्रा समाप्त की। इनकी गोस्वामी तुलसी-दास से तुलना करते हुए लोग कहते हैं कि सूर की भक्ति "सख्य" भाव को लिए हुए और तुलसी की "दास्य"-भाव पर आश्रित है। ये छोटी बातें हैं। भक्त अपने उपास्य देव के प्रेम में उसकी मान-

सिक और तात्विक अनुभूति में जैसी इच्छा हो लिखने का अधिकार रखता है। दोनों की तुलना भाषा की दृष्टि से तथा वर्णनीय विषद् भेद से की जा सकती है। परन्तु उसके लिए भी यह पुस्तक उचित स्थान नहीं। भ्रमर गीत भी इनका प्रसिद्ध ग्रंथ है।

कुम्भनदास

ये जाति के क्षत्रिय थे और गोवर्धन के पास के ही एक ग्राम के निवासी थे। इनका जन्म १५२५ में हुआ। अष्ट छाप के प्रसिद्ध कवि चतुर्भजदास इनके पुत्र थे। ये कृषि का अपना स्वतन्त्र व्यवसाय करते थे और प्रतिग्रह के विरोधी थे। दान लीला और पदावली, दो ग्रंथ इनके प्रसिद्ध हैं, दोनों पुस्तक गीति काव्य हैं।

परमानन्द दास

ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। सं० १५५० कन्नौज में इनका जन्म हुआ। ये बड़ी मधुर कविता करते थे। सुनते हैं एक बार इनका एक पद्य सुनकर श्री वल्लभ जो कई दिवस तक अपने शरीर की सुध भूले रहे। इनके मुक्तक के पदों का संग्रह 'परमानन्द सागर' में मिलता है।

कृष्णदास

इनका जन्म गुजरात में अहमदाबाद के पास सं० १५५४ के लगभग हुआ। ये जाति से शूद्र थे परन्तु श्री वल्लभ की कृपा से मन्दिर के प्रधान थे। बीरबल ने इनको कारागार में भेज दिया परन्तु आचार्य के अनुरोध से इन्हें मुक्ति मिली और फिर मन्दिर के प्रधान बन गये (कारागार में एक स्त्री से प्रेम करने के बहाने पर भेजा गया था। वस्तुत: विट्ठलनाथ जी से अनबन के कारण उनके भक्त बीरबल ने ऐसा किया था)। इन्होंने भ्रमरगीतादि आठ पुस्तकें लिखीं—सब गीतिकाव्य हैं।

छीत स्वामी

ये चतुर्वेदी (चौबे) ब्राह्मण थे। सं० १५७२ में मथुरा में जन्म हुआ। विट्ठलनाथ जी से दीक्षा लेने के पहिले, इन्हें अशिष्ट पुरुषों की संगति थी। दान लीला, कुञ्ज लीला और बधाई इनकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। ये सब गीतिकाव्य हैं। सं० १६४२ तक ये जीवित थे।

गोविन्द स्वामी

इनका जन्म भरतपुर राज्य में सं० १५६२ में हुआ। ये स्थायी रूप से महावन से रहते थे। १५९२ में इन्होंने स्वामी विट्ठलनाथ से दीक्षा ली। गोवर्धन पर्वत पर इनकी लगाई हुई 'कदंब खंडी' अभी तक प्रसिद्ध है। कहते हैं तानसेनजी कभी-कभी इनका गाना सुनने आया करते थे क्योंकि ये बड़े सुन्दर-गायक थे।

चतुर्भुज दास

जैसा ऊपर बताया जा चुका है ये कुम्भनदास जी के पुत्र थे। इनका जन्म सं० १५९७ में हुआ। इनकी भाषा बड़ी सुन्दर थी। दान लीला, भक्ति प्रताप आदि ६ पुस्तकें इन्होंने लिखी थीं। वे सब गीतिकाव्य हैं।

नन्द दास

इनका जन्म सं० १५९० में हुआ और मृत्यु सं० १६३५ में, इनकी कविता अनुप्रास मिश्रित संस्कृत शब्द पूर्ण ब्रजभाषा में होती थीं अतः पसिद्ध है 'सब कवि घड़िया, नन्द दास जड़िया' ये सूरदास क समकालीन थे और एक वैश्य स्त्री पर आसक्त थे। इनकी लिखी हुई लगभग १२ पुस्तकें मिलती हैं। भंवर गीत सबसे प्रसिद्ध है। रुक्मिणी-मंगल भी अच्छा है।

नोटः—

यद्यपि उपर्युक्त कवियों की कविता में शृङ्गार का पुट मिलता है जिसका प्रभाव आगे चलकर कुछ अच्छा नहीं हुआ परन्तु इसके लिए ये भक्त कवि दोषी नहीं हो सकते। इनकी भक्ति शुद्ध थी और उसके उद्रेक में आत्मसमर्पण या आत्मनिवेदन करते हुए जो हृदय में आया कह दिया। वहाँ वासना का लेश भी न था।

पुष्टिमार्ग जिसके प्रचार के लिए श्री विट्ठलनाथ द्वारा अष्टछाप के आठ कवि चुने गए का तात्पर्य यह था कि मुक्ति, ज्ञान, कर्म और भक्ति से तो प्राप्त होती है, परन्तु उनके साथ भगवान का अनुग्रह भी अपेक्षित है। मनुष्य केवल अपने प्रयत्न से मुक्ति लाभ नहीं कर सकता। किंच वल्लभी सम्प्रदायी जो कृत्य करते हैं सब श्री कृष्ण की सेवा से अधिक योग्य होने के लिए यह सिद्धांत भी समझे रहें।

३, अष्टछाप से बाहिर के कृष्णभक्त कवि

(१) हितहरि

इन्होंने उपासना में श्री राधा जी की प्रधानता रखकर राधावल्लभी सम्प्रदाय को जन्म दिया। राधा राणी है और कृष्ण उनके दास हैं अर्थात् राधा की उपासना, आराधना और प्रसन्नता से ही श्री कृष्ण का प्रसाद प्राप्त हो सकता है।

(२) हरिदास

ये भी एक नये सम्प्रदाय (टट्टी सम्प्रदाय) के प्रवर्तक हैं! गानविद्या में तानसेन इनको गुरु मानते थे। सुनते हैं एक साधु के वेष में बादशाह अकबर भी इनका गाना सुनने गये थे। (ये लोग बुलाने से किसी के स्थान पर नहीं जाते थे)।

(३) रसखान

यद्यपि ये मुसलमान थे परन्तु कृष्ण भक्तों की चर्चा करते हुए इन्हें भूला नहीं जा सकता। इनकी अनुप्रास भरी ब्रजभाषा में कविता सुनकर सुनने वाला मोहित हो जाता था। इनके बहुत से मुक्तक प्रसिद्ध हैं।

४. पीछे के कृष्णभक्त कवि

अकबर का समय भारतवर्ष और उसकी समाज के लिए सुवर्ण युग था। उसके अनन्तर न तो कोई ऐसा गुणग्राही बादशाह गद्दी पर था और न मनुष्यों की ही पुरानी रुचि रह गई थी। हिन्दी कविता का भी ह्रास हुआ। इस काल की जनता कुछ विलास प्रिय भी हो चली थी अतः भक्ति के स्थान में-शृङ्गार ने आसन जमा लिया। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि भक्ति की कविता बिल्कुल समाप्त हो चुकी थी। उसका क्रम टूटा नहीं।

(क) भक्त नागरी दास ने लगभग ७३ ग्रन्थ लिखे। उनकी रचना अच्छी थी।

ये सब भक्ति के ही ग्रन्थ हैं और गीतिकाव्य हैं।

(ख) १८ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में अलबेली अली भक्त कवि हुए। उनकी 'समय प्रबन्ध पदावली' बड़ी सुन्दर रचना है, चाचा हित-वृन्दावन दास इनके काल के और भक्त कवि हैं। आधुनिक युग में स्वर्गीय पंडित सत्यनारायण जी जिन्होंने भ्रमर दूत लिखा तथा जगन्नाथ दास रत्नाकर उद्धव-शतक के लेखक कृष्ण भक्ति शाखा के कवि थे। पं० अयोध्या-सिंह उपाध्याय, वियोगी हरि तथा मैथिलीशरण जी (विरहिणी ब्रजांगना का हिन्दी अनुवाद) भी स्मरणीय हैं।

५. कृष्ण भक्ति काल की अन्य प्रकार की रचनाएँ

यह पहिले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि अकबर का काल भारत के लिये सर्वोदय युग था। सम्राट् स्वयं गुणग्राही था और गुणियों का सन्मान करता था। इस काल में भक्ति साहित्य ने तो उन्नति प्राप्त की ही, परन्तु अन्य विषयों पर भी लिखने वालों की कमी न थी। एक ओर शृंगार और नीति कविता के विषय बने हुए थे तो दूसरी ओर कविता ही को कविता का विषय बनाया हुआ था। पहले वर्ग से सम्बन्ध रखने वाले रहीम गंग तथा नरहरि और सेनापति हैं और दूसरी कोटि से सम्बन्ध रखने वाले अन्य रीतिकालिक कवि जिनमें केशव का स्थान सर्वप्रथम है। कई कवि जो वस्तुः भक्तिकाल में थे रीतिकाल के कवियों के साथ परिगणित होते हैं।

रहीम

रहीम, अकबर के दरबारी थे और कविता-कामिनी के उपासक थे। इन्होंने नीति के ऐसे सुन्दर दोहे लिखे हैं जिन्हे पढ़कर चित्त प्रसन्न होता है। इनके फुटकर दोहों के कारण ही इनका हिन्दी कवियों में बहुत ऊँचा स्थान है। दोहों के अतिरिक्त इन्होंने बरवै, सोरठे और सवैये भी बहुत लिखे थे। ये अवधी और ब्रज दोनों भाषाओं के पण्डित थे। इनके बहुत से वचन कहावत बन गये हैं।

गंग और नरहरि

गंग भी अकबर के दरबार की शोभा थे। ये शृंगार और वीर दोनों रसों पर पूर्ण अधिकार रखते थे इनके पाण्डित्य तथा वैदग्ध्य की अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। "तुलसी गंग दोऊ भये, सुकविन के सरदार" इनकी सर्वमान्यता का परिचय देती है।

नरहरि के विषय में कुछ अधिक पता नहीं चलता। सुनते हैं बादशाह (अकबर) ने इनका एक छप्पय सुनकर अपने राज्य में गोवध का निषेध करा दिया था।

सेनापति

ये दरबारी कवि न थे। इन्होंने षड्ऋतुओं का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। अपने अन्तिम जीवन में ये संन्यासी हो गये थे।

बीरबल

ये बादशाह अकबर में बड़े मन चढ़े प्रधान मंत्री, मित्र तथा कवि थे। अकबर और बीरबल की वाग्विनोद से सम्बन्ध रखने वाली अनेक कथाएँ इस समय प्रचलित हैं जिनसे ज्ञात होता है कि बीरबल बड़े प्रतिभा सम्पन्न और सरस्वती के वरद पुत्र थे। बीरबल योग्य कवियों का बड़ा सन्मान करते थे और एक-एक दोहे पर बहुत सा रुपया पुरस्कार दे देते थे। इनकी कविता सानुप्रास होती थी और ब्रजभाषा में ही

टोडरमल

ये बड़े उच्च कर्मचारी थे। इनके कुछ नीति के दोहे मिले हैं जो बहुत उच्चकोटि के हैं।

इनके अतिरिक्त अकबर के दरबार में और भी हिन्दी के कवि थे।

नोट ९ :—इस काल की कृतियों में नरोत्तमदास का सुदामा-चरित (एक खण्ड काव्य) भी पढ़ने के योग्य है। दारिद्र्य का अच्छा चित्र खींचा है।

आठवाँ प्रवचन

रीतिकाल (१७००—१९०० सं०)

प्राक् प्रवचन—

नोट ९: – केशव का काल यद्यपि १६१२ से १६७४ था, परन्तु उनका वर्णन हम रीतिकाल में करेंगे।

भक्तिकाल हिन्दी-साहित्य का सुवर्ण युग था। कारण स्पष्ट है। इस काल के प्रतिनिधि सब ही कवि पंडित थे, कृतश्रम थे, सांसारिक मर्यादा से खूब परिचित थे; अर्थात् सारस्वत थे और साथ ही में विरक्त थे, भक्त थे; न उनको धन की अभिलाषा थी, न उनके हृदय में मानापमान का विचार था, न यश और कीर्ति के वे भूखे थे, न उनको अपनी आत्मा को दबाकर अपने किसी आश्रयदाता को प्रसन्न करना था। वे तो 'स्वान्त: सुखाय', भगवान् का गुणगान करते थे और शास्त्राभ्यासी होने के कारण सुन्दर रम्य पदावली स्वयम् उनके मुख से निकलती थी। यदि अकबर जैसे शाहनशाह इन्हें निमंत्रण भेजते थे तो 'सन्तन कहा सीकरी काम' कहकर ये बड़े आदरपूर्वक उसे लौटा देते थे। रसखान की—"कोटिन वे कल धौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं" प्रेमोक्ति उपर्युक्त मत की पुष्टि करती है।

'विद्या ददाति विनियम्' का पाठ इन संत कवियों ने खूब पढ़ा था। ये विनीत थे, सच्चरित्र थे, निरपेक्ष थे और इनकी इस मनोवृत्ति के कारण इनके काव्य पढ़ने से ऐसा अनुभव होता है, मानो वीणा-वादिनी भगवती देवी सरस्वती उनके पवित्र मुख में वास करती थी। इनकी कविता में न शब्द जाल है, न बाहिरी टीप टाप है और न व्यर्थ के रूपकों की भरमार है। इन महानुभाओं पुण्यात्माओं के हृदय में शुद्ध पवित्र भाव उठते थे और उन्हें प्रकट करने का ढंग इन्हें आता था। उचित शब्दों की कभी इनके पास न थी। काव्यकला का नैसर्गिक ज्ञान रखते थे तथा उसमें उत्कर्ष प्राप्ति के लिए श्रम भी किया था, उसके लिये गुरु सेवा और तपस्या की थी।

किञ्च, यह भी स्मृत रहे कि इनकी कविता में भाव की प्रधानता और कला की गौणता थी। कला की गौणता का यह तात्पर्य नहीं कि इन्हें काव्यकला से पूर्ण परिचय न था, अपितु यह कि

काव्यकला (अलंकारादि का प्रयोग) भावाभिव्यक्ति की साधन मात्र थी। अतएव काव्यकला प्रदर्शन के लिये भावों की तोड़ मरोड़ इनकी कविता में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती, अस्तु।

यद्यपि लक्षण ग्रन्थों का निर्माण लक्ष्य ग्रन्थों की सृष्टि के उपरान्त ही हुआ करता है, अर्थात् पहिले कविता की सृष्टि होती है और पीछे उसके नियमादि बनते हैं। (हमारा धार्मिक विश्वास भी इसी ओर संकेत करता है) आरम्भिक युग में ऋषि ही कविता के प्रवर्तक माने गए हैं। क्योंकि वे लक्ष्यैकचक्षुष्क होते हैं ऋषि वाल्मीकि के मुख से सहसा निकला हुआ अधोलिखित पद्य—

'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

इस मत का और भी स्पष्टीकरण करता है। इन आदि महापुरुषों को जैसे धर्म का साक्षात्कार होता है वैसे ही काव्यकला का भी नैसर्गिक बोध होता है। इनके द्वारा सरल सुन्दर कविता का पर्याप्त उदय होने पर, इन्हीं का शिष्यवर्ग और भी निम्न बुद्धि वाले अपने शिष्यों के हितार्थ कुछ नियम निर्माण कर देता है जो आगे बने हुए अनेक लक्षण ग्रन्थों के लिये मूल मंत्र का कार्य करते हैं। हम महात्मा तुलसीदास, महात्मा सूरदासादि को ऐसा ही युग प्रवर्तक मानते हैं। उनकी देखादेखी बहुत पुरुषों ने कविताएँ लिखीं। फिर हिंदी साहित्य में ऐसे युग का आना अवश्यम्भावी था जिसमें काव्यकला का विवेचन हो और लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण हो। परन्तु तनिक खेद की बात है कि भक्ति काल के अनन्तर हिन्दी-पण्डितों ने लक्षण-ग्रंथ लिखने की पुरातन पद्धति का (गद्य और कारिकारूप) अनुसरण न करके अपनी नूतन शैली से काव्य-कला को कविता का विषय बनाया और यह प्रकृति (कविता के लिये काव्य) यहाँ तक बढ़ी कि डेढ़ सौ दो

सौ वर्ष तक हिंदी साहित्य में नख-शिख वर्णन ही होता रहा। विहारी के सात सौ दोहों में से ५०० दोहे पाँच सौ प्रकार की नायिकाओं के शाब्दिक चित्र हैं।

रीतिकाल

रीतिकाल हिन्दी साहित्य के पतन का युग है। लक्षण-ग्रन्थों के लिखने की प्रकृति यदि ठीक ढंग की होती और सीमा में रहती तो इस युग में हिन्दी साहित्य की उत्तरोत्तर अवश्य श्री वृद्धि होती, परन्तु इस काल के कवियों की कविता में शृंगार का इतना पुट आ गया कि कृष्ण-भक्ति की कविता भी अध:पतन से न बच सकी। भगवान् कृष्ण एवम् गोपियों की ओट में कवियों ने धनिकों की अनाचार वृत्ति को खूब सहारा पहुँचाया। यह लिखने से हमारा तात्पर्य यह नहीं कि शृंगार रस या उसके विविध अंगों का निरूपण अवांछनीय है। हम तो केवल इतना कहना चाहते हैं कि साहित्य में मनुष्य-जीवन के रहस्यों का उद्घाटन होना चाहिए। उसे हमारे जीवन की विविध अज्ञेय एवम् गहन समस्याओं को रसधारा बहाते हुए स्पष्ट करना चाहिये। इसमें एक ओर तो मानव समाज के उच्चात्युच्च लक्ष्यों और आकांक्षाओं की झलक रहनी चाहिये और दूसरी ओर वास्तविक जीवन की विविध परिस्थितियों में मनुष्यों के सुख दुख और उत्थान पतन का चित्रण रहना चाहिए। भक्तिकाल के साहित्य में यह था—परन्तु रीतिकाल में ये सब बातें गौण हुईं। काव्य-कला निरूपण उसमें भी शृंगार का वर्णन मुख्य हुआ—यह ही शोचनीय है।

यद्यपि रीतिकाल के कवियों में उक्त दोष पाया जाता है—परन्तु यह मानना पड़ेगा कि गार्हस्थ्य जीवन के विलासपूर्ण पक्ष पर और स्त्री-पुरुष के वासनामय सम्बन्ध के विविध अंगों पर इन कवियों का ध्यान गया और चाहे उनका पूर्ण चित्र उन्होंने

न दिया हो परन्तु खंडित और अधूरा चित्र अंकित करके जो प्रेम और सौंदर्य की अभिव्यक्ति की वह प्रशंसनीय है। यद्यपि इनका काव्य-क्षेत्र सीमित है परन्तु पठनीय है तथा उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इनका काव्य सौष्ठव अद्वितीय है, यह मानना ही पड़ेगा।

इस काल से पूर्व के लेखकों की कविता में जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट हो चुका है अलंकारादि प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं परंतु उनमें उनका स्थान गौण है। वे भवाभिव्यक्ति के साधन मात्र हैं। इसी प्रकार प्रसंग से प्राप्त नायिकाओं के भेद और उपभेदादि भी मिलते हैं, परंतु रीतिकाल में तो अलंकार क्या है। उसके कितने प्रकार और उपप्रकार है, इत्यादि का निरूपण ही कवि को इष्ट हुआ और वही कविता का विषय बना। उनका उदाहरण देते हुए यदि कोई सुन्दर भाव आ गया, बहुत अच्छा, अन्यथा उनकी दृष्टि कविता के रूप प्रदर्शन पर थी और इसी लिये इस युग को रीतिकाल कहते हैं, जैसे छन्दः शास्त्र के पण्डितों ने छन्दों के लक्षण और उदाहरण के लिए कविता की। इससे अभ्यास सौकर्य हो जाता है उदाहरणः—'शृंगार भूषण अंत लग जन गाइये हरि गीतिका।'

किंच इस काल के कवि राजदरबारी थे। भक्तिकाल के कवि सीकरी से भागते थे और ये सीकरी को भागते थे। अर्थात् इन्हें राजाश्रय की निरंतर अभिलाषा और चाह रहती थी।

इस युग का कौन कवि आचार्य पदवी के योग्य है इसके लिये संस्कृत काव्यकला और हिंदी कव्यकला के तुलनात्मक अध्ययन की और यह बताने की कि हिंदी काव्यकला कहाँ संस्कृत काव्य कला से भिन्न है और उस भेद का प्रवर्तक कौन है इत्यादि देखने की आवश्यकता है। इस छोटी सी पुस्तक में दोनों पद्धतियों का निरूपण करना और उनका भेद बताना असम्भव नहीं अतः हिंदी

साहित्य के इतिहास के पंडितों ने जिसको आचार्य कहा हम भी उसको आचाय कहेंगे।

इस काल के कवियों की भाषा और छंद के विषय में हम इतना लिखना पर्याप्त समझते हैं कि अपने विषय के अनुकूल इनकी भाषा और छन्द बहुत सुन्दर थे। उनमें प्रौढ़ता और परिष्कृति दोनों उपस्थित हैं। बिहारी ने दोहा-छन्द के विकास को बहुत ही ऊँचा पहुँचा दिया है। देव और पद्माकर के कवित्त और मतिराम के सवैये (विद्वानों का कथन है) गठन की दृष्टि से हिन्दी साहित्य में अद्वितीय हैं।

केशवदास

केशवदास यद्यपि तुलसीदास के समकालीन थे और "रामचन्द्रिका" ग्रन्थ लिखने के कारण भक्ति काल के कवि माने जाने चाहियें परन्तु ये संस्कृत के प्रौढ़ पण्डित थे अत: हिन्दी में काव्य कला प्रचार की और आचार्य बनने की इच्छा इनमें बलवती हुई अतएव भक्ति काल में होते हुए भी हमने इनको रीतिकाल का कवि कहना ही उचित समझा।

इनका जन्म सम्वत् १६३२ में और मृत्यु १६७४ के लगभग हुई। ओरछा नरेश महाराज रामसिंह के भाई इन्द्रजीतसिंह इनका बड़ा सम्मान करते थे। इन्द्रजीत पर ही सब राज्यकार्य का भार था और इन्द्रजीत जी के कारण रामसिंह अथवा रामशाह भी केशव को सखा और मन्त्री मानते थे। केशव ने संस्कृत-साहित्य का खूब अध्ययन किया था। इन्होंने काव्यस्वरूप बताते हुए उसमें अलङ्कार को प्रधानता दी है, अर्थात् ये संस्कृत साहित्य के प्राचीन आचार्य 'भामह' और दण्डी आदि की प्रतिपादित पद्धति को माननेवाले थे। कहते हैं इन्होंने सात ग्रन्थ लिखे थे, जिनके नाम इस प्रकार हैं:—

कविप्रिया, रसिकप्रिया, रामचन्द्रिका, वीरसिंहदेवचरित, विज्ञानगीता, रतनबावनी, जहागीरजस-चन्द्रिका।

रामचन्द्रिका में श्रीराम की कथा है। रसिकप्रिया और कवि-प्रिया में श्रीकृष्ण की। यह कहना पड़ेगा कि रसिकप्रिया और कविप्रिया में कृष्ण एक अवतार रूप में वर्णित न होकर एक रसिक युवक प्रतीत होते हैं। रामचन्द्रिका को प्रबन्ध काव्य कह सकते हैं। परन्तु सर्व सम्मति से नहीं। इन्हें मुक्तक कहना अधिक उपयुक्त है। इनकी रचना अहृदयग्राहिणी इसी लिए हुई कि उसमें अलङ्कार-प्रदर्शन की धुन बहुत बलवती है। विविध काव्याङ्गों का परिचय इनकी कविता में खूब मिलता है। ये वृद्धावस्था तक बहुत रसिक रहे। रामचन्द्रिका और कविप्रिया तो वस्तुतः अलंकार के ग्रंथ हैं। रसिक प्रिया को रस का ग्रंथ कह लीजिए। विज्ञान गीता में इन्होंने अपने दार्शनिक भाव प्रकट किये हैं (भगवान् दीन केशव के प्रसिद्ध टीकाकार हैं।)

केशव बड़े धनाढ्य ब्राह्मण थे। एक गाँव के मालिक थे। राजसी ठाठ से रहते थे। पण्डितों के कुल में उत्पन्न हुए थे। अतएव उनकी कविता में बाह्यदृश्यवर्णन खूब मिलता है। विद्वानों का कथन है—"कि शृङ्गार के वर्णन तथा नंगे दृश्यों को अङ्कित करने की आनंद की भावना ने केशव को सीमा और धार्मिकता से गिरा दिया था।"

केशव की कला, केशव का प्रकृति वर्णन, केशव का आचार्यत्व तथा इनका पांडित्य, ऐसे विषय हैं कि उनका स्पष्टीकरण इस छोटी पुस्तक में नहीं किया जा सकता।

चिन्तामणि त्रिपाठी

ये तिकवाँपुर (कानपुर) के रहनेवाले थे। भूषण, मतिराम, जटाशंकर इनके तीन भाई और थे। (कोई कहता है कि ये चारों

सगे भाई न होकर समकालीन, तिकवाँपुर के निवासी थे) चिन्तामणि का जन्म सं० १६६६ में हुआ था। इनके अधोलिखित ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—काव्यविवेक, काव्यकलकल्पतरु, काव्यप्रकाश और रामायण। इन्होंने नागपुर के सूर्यवंशी भौंसला मकरन्दशाह के नाम पर छंदविचार ग्रंथ लिखा। कहते हैं शाहजहाँ बादशाह ने भी इनको बहुत दान दिया था। और ये बहुत उच्च कोटि के कवि थे। काव्य के लक्षण में रस को प्रधानता देने वाले हिन्दी के प्रथम कवि ये ही थे।

मतिराम

मिश्र बन्धुओं ने इन्हें कवि रत्न कहा है। ये भी तिकवाँपुर के रहने वाले थे। सं० १६७४ के लगभग इनका जन्म हुआ। मतिराम की रसभरी प्रसादगुण सम्पन्न भाषा की विद्वानों ने बहुत प्रशंसा की है। यूँ तो इन्होंने कई ग्रंथ लिखे परन्तु 'रसराज' और 'ललित-ललाम' दो ग्रंथ बहुत ही प्रसिद्ध हैं। रस और अलङ्कार का इन पुस्तकों में विषद विवेचन है। ललित-ललाम में अलङ्कारों के बड़े स्पष्ट उदाहरण दिये गये हैं। इनका बनाया हुआ "मतिराम सतसई" नामक ग्रंथ शृङ्गार के ७०० दोहों का सुन्दर सङ्कलन है।

भूषण

इनका जन्म काल भी सं० १६७० है। ये चिंतामणि और मतिराम के भाई थे। 'भूषण' इनको उपाधि थी। इनके असल नाम का पता नहीं। शिवाजी और छतसाल इनके दो मनोनीत नायक थे। कहते हैं जब छत्रसाल ने एक कहार के हटने पर इनकी पालकी पर कंधा लगाया (जब ये छत्रसाल के पास पन्ना आ रहे थे, छत्रसाल स्वागत के लिए पहिले से ही आ गये थे) तो ये तुरंत पालकी से कूद पड़े और एकदम कवित्त पढ़ा—

"सिवा को बखानौं कि बखानौं छत्रसाल को।" ये वीर रस के बड़े प्रसिद्ध कवि थे। वस्तुतः, विद्वान् इनको वीरगाथा काल के अनन्तर वीररस की द्वितीय धारा का मुख्य कवि मानते हैं। ऐसा कहते हैं कि शिवा जी ने इनके एक छंद पर बावन लाख रुपया, बावन गाँव, बावन हाथी इत्यादि पुरस्कार में दिये। भूषण ऐसे समय में उत्पन्न हुए थे जब कवि केवल शृंगार रस की ही रचना किया करते थे। इन्होंने ही वीररस की कविता करने का साहस किया और ऐसे महानुभाव अपने नायक चुने जिनको हिंदूसमाज पूजता है। इनकी वीर वर्णन शक्ति का कहाँ तक वर्णन किया जाए—वह तो कायर को भी वीर बनाने वाली है। इनके शिवाबावनी, शिवराजभूषण, और छत्रसालदसक ये तीन ग्रंथ मिलते हैं। शिवराजभूषण वस्तुतः अलङ्कार का ग्रंथ है इसके अतिरिक्त इनके भूषण उल्लास और भूषण हज़ारा आदि और भी कई ग्रंथ कहे जाते हैं। इनकी भाषा में अरबी, फारसी के शब्द आ जाते हैं। कुछ अपने गढ़े हुए शब्द भी हैं। संक्षेप से यही कहेंगे कि इनकी भाषा अव्यवस्थित है। भूषण ने औरङ्गजेब को उसकी मक्कारी दिखाने के लिए जो कवित्त पढ़ा था वह स्मरणीय है। सुना है इनके बड़े भाई औरङ्गजेब के दरबारी थे और शिवाजी के पास जाने से पूर्व ये भी कुछ दिन औरङ्गजेब के दरबार में रहे थे।

नोट—मतिराम, चिंतामणि, भूषण और जटाशंकर इनको त्रिपाठी बंधु भी कहते हैं।

बिहारी

इनका जन्म बुंदेलखण्ड में सं० १६६० के लगभग हुआ। युवावस्था में अपने श्वसुर के घर मथुरा में आ रहे। इनका मृत्यु-काल सं० १७२० के आस पास है। ये जयपुर नरेश जैसाह (जैसिंह) के दरबारी कवि थे। सुनते हैं ये नरेश अपनी छोटी

रानी पर जो अभी किशोरावस्था में ही थी इतने आसक्त थे कि बहुत दिनों तक महलों से बाहर आए ही नहीं महल में बैठे उसका मुखसौंदर्य देखते रहते थे, तब बिहारी ने अन्य सरदारों की सम्मति से यह दोहा लिख कर भेजा।

नहिं पराग नहिं मधुरमधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सों बंध्यो, आगे कौन हवाल॥

राजा को यह पद्य बहुत पसन्द आया और तब से दरबार में बिहरी का मान बढ़ा और सुंदर दोहे लिखने के लिए इनसे प्रार्थना की गई जिसका फलस्वरूप अपनुम मुक्तक काव्य 'बिहारी-सतसई' है।

बिहारी बहुज्ञ थे, बड़े अनुभवी थे। बड़ी पैनी दृष्टि रखते थे और इतनी पैनी कि हम उन्हें कांइयाँ कह सकते हैं। इनके अश्लील वर्णनों को पढ़कर सन्देह होता है कि समाज इतना पतित था आहोस्वित् ये कवीश्वर इतने पतिताचार थे कि ऐसा वर्णन इन्हें सूझा। कुछ भी हो, इनके ५०० दोहे शृङ्गार के उदाहरण और शेष दो सौ अन्य रसों के उदाहरण हैं। उक्तियाँ बड़ी अनूठी और दिल में चुभने वाली हैं।

बिहारी एक ख्याति सम्पन्न कवि थे और यदि सुन्दर मुक्तक काव्य कला का उत्कृष्ट उदाहरण माना जाये तो हमें यह मानने में तनिक भी संकोच नहीं कि बिहारी अपने काल का सर्वोत्तम कवि था। इतना साथ में अवश्य कहेंगे कि इनकी कविता केवल युवक हृदय को प्रसन्न करने वाली है। मर्मज्ञों के लिए भी सामग्री है परन्तु कहीं कहीं। (बिहारीलाल भी एक निबंध के विषय हैं।)

देव

देव अथवा देवदत्त का जन्म सं० १७३० के लगभग इटावा में हुआ। कोई इन्हें कान्यकुब्ज ब्राह्मण बताते हैं तो कोई सनाढ्य।

इनका अधिक वृत्तान्त ज्ञात नहीं। इतना अवश्य प्रतीत होता है कि १६ वर्ष में सुन्दर ग्रंथ लिखने के कारण ये नैसर्गिक कवि थे। लगभग इन्होंने ७० ग्रंथ लिखे। रीतिकाल के कवियों में सबसे अधिक साहित्य इन्होंने लिखा। इनको किसी राजा या धनिक का स्थायी आश्रय नहीं मिला यह भी स्पष्ट ज्ञात होता है क्योंकि ये स्थान-स्थान पर घूमते रहे और कहीं टिके नहीं। विद्वानों का कथन है कि इसी कारण से इनकी काव्य-कला इतनी उत्कृष्ट है। आत्मा दबा कर किसी की प्रशंसा करने की आवश्यकता इन्हें कभी न हुई। इनकी प्रारम्भिक कविताएँ प्रेमोन्माद पूर्ण हैं परंतु प्रौढावस्था की कविता भी प्रौढ़ है।

ये भी रीति काल के आचार्य हैं। इनका शब्द भंडार अमित था और मुख्य विषय इन का प्रेम था जिसमें अपरोक्ष की ओर तो संकेत नहीं परन्तु सूझ ऊँची अवश्य और हृदय को पकड़ने वाली हैं।

देव के ग्रंथ

भाव विलास, अष्टयाम, भवानी विलास, सुजान विनोद, प्रेम तरंग, राग रत्नाकर आदि—

जिसने इतने ग्रंथ लिखे उसकी कवित्व शक्ति, कल्पना शक्ति, विद्वत्ता, बहुज्ञता तथा मौलिकता का क्या कहना है, कभी-कभी इनकी कविता में शब्दाडम्बर पाया जाता है।

वीर

देहली निवासी कवि वीर ने 'कृष्णाचंद्रिका' नामक ग्रंथ सन् १७९६ में लिखा। इसका विषय 'रस भेद' और नायिका भेद हैं।

कृष्ण

ये बिहारी के पुत्र थे। जयपुर नरेश जयशाह की आज्ञा से इन्होंने सतसई की टीका सं० १७८५ के लगभग लिखी। दोहों का भाव स्पष्ट करने के लिए सवैयों में परिवर्तन बहुत ही सुंदर है।

भिखारी दास

कायस्थ कुल भूषण भिखारीदास जिला अवध के रहने वाले थे और सम्बत् १८०७ तक जीवित थे। इन्होंने काव्य निर्णय, अमर प्रकाशादि आठ नौ ग्रंथ लिखे थे। इनका काव्यांगों का निरूपण अर्थात् रस, अलंकार रीति गुण, अभिधा आदि शक्ति इतना विषद तथा मौलिक है कि विद्वानों ने इन्हें आचार्य की पदवी से विभूषित किया। इनका नायिका-अलंकारों का वर्णन बड़ा ही सुन्दर है।

पद्माकर

ये रीति काल के अंतिम प्रसिद्ध कवि हैं। ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनके भी आश्रय दाता जयपुर के राजा जगतसिंह थे। इनका स्वर्गवास कानपुर में हुआ क्योंकि वहाँ ये आ बसे थे। इन्होंने शृङ्गार रस की कविताएँ बहुत की थीं। उनमें कहीं-कहीं अश्लीलता भी आ गई है। फिर भी ये बड़े अच्छे मुक्तकलेखक हैं। कोई-कोई तो इन्हें रीतिकाल का सर्वोत्तम कवि मानते हैं।

नोट—इस रीतिकाल में कविता पर कविता हो रही थी; अत: 'पाण्डित्य प्रदर्शन' कविता का उद्देश्य हो गया था और कविता का स्वरूप एक मशीन के समान हो गया जिसको अनेक चतुर कवियों ने लिखने का साहस किया। कविता का वास्तविक रूप नष्ट हो गया और जैसा हम पहिले कह चुके हैं हम इसे हिन्दी-साहित्य का पतनयुग ही मानते हैं। इस काल के लगभग पचास कवियों के और नाम दिये जा सकते हैं। यहाँ अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं।

नोट—यह आश्चर्य की बात है कि कवियों की इतनी संख्या होने पर भी महाकाव्य किसी ने न लिखा। भूषण को शिवाजी

भी मिले फिर भी महाकाव्य न लिख पाए। ऐसा प्रतीत होता है कि समय अनुकूल न था।

कविता के उदाहरण अपनी पुस्तकों में देखें।

नवाँ प्रवचन

वर्तमान काल १९०० से आज तक

वर्तमान काल हिन्दी साहित्य के लिए एक विशेष गौरव का युग है। यदि इस काल के साहित्य की विशेषताओं पर ध्यान दिया जाए तो यह कहना पड़ेगा कि हिन्दी साहित्य ने इस युग में (१) अपना रूप बदला अर्थात् अब तक हिन्दी साहित्य पद्यमय ही था वर्तमान काल में आकर इस के दो रूप हो गये:—

(क) पद्य

(ख) गद्य

इन दो रूपों की प्राप्ति साहित्य की रूप प्राप्ति की पूर्णता है।

(२) अपनी भाषा बदली अर्थात् अब तक का साहित्य मुख्य रूप से ब्रज भाषा में था (यद्यपि पद्मावत तथा रामचरित मानस आदि की भाषा अवधी है। वर्तमान युग खड़ी बोली का युग है। हिन्दी का गद्य साहित्य तो खड़ी बोली में लिखा ही गया अपितु पद्य के लिये भी खड़ी बोली का ही बोला बाला रहा।) इस काल के ब्रज भाषा के कवियों का वृत्तान्त पृथक् दे दिया जायगा।'

(३) अपना विषय भी बदला, अर्थात् अब तक का साहित्य या तो भक्ति साहित्य था; या उसमें कुछ वीर प्रबन्ध काव्य और वीर मुक्तक काव्य मिलते थे या शृंगारिक कविता थी। वर्तमान युग में समाज सुधार, जातीय संगठन, राष्ट्र निर्माण, देश प्रेम इत्यादि विषय, गद्य और पद्य दोनों के विषय बने। हिन्दी कविता-

कामिनी एक अपूर्व वेष-भूषा में समाज के सामने आई और इन्हीं विषयों के कारण गद्य को विस्तृत क्षेत्र मिला।

उपर्युक्त पहिली विशेषता बताने से यह स्पष्ट हुआ कि वर्तमान काल के हिन्दी साहित्य के इतिहास का विवेचन या वर्णन दो धाराओं में किया जायगा:—

(१) पद्य धारा (रीति काल के अनन्तर परन्तु उससे लगी हुई, क्योंकि साहित्य का यह रूप तो पहिले ही से चला आ रहा था)

(२) गद्य धारा (जो साहित्य का पद्य के साथ-साथ इस युग में एक नया रूप हुआ।

नोट—वर्तमान कालिक पद्य धारा का सम्पूर्ण इतिहास देकर, गद्यधारा का इतिहास देंगे परन्तु दोनों के इतिहास देने से पूर्व, उपर्युक्त विशेषताओं के प्रतिपादन से दो महत्त्व पूर्ण प्रश्न उठते हैं और उनका उत्तर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

(१) वर्तमान काल से पूर्व हिन्दी गद्य का इतिहास क्या है? अर्थात् सं० १९०० से पूर्व हिन्दी साहित्य में कुछ गद्य लिखा गया कि नहीं? यदि लिखा गया तो उसका संक्षिप्त वर्णन तथा उसके एक दो उदाहरण क्या है?

(२) खड़ी बोली जो हिन्दी का एक तीसरा साहित्य रूप है (अन्य दो रूप व्रज औ अवधी) जिसका प्रभुत्व वर्तमान काल में इतना देखने में आया, अब तक कहां थी? इसमें भी कुछ साहित्य था कि नहीं। इसकी उत्पत्ति हिन्दी के रूपान्तरों के साथ साथ ही हुई या यह उर्दू का विकृत रूप है? इन दोनों प्रश्नों में से द्वितीय प्रश्न को पहिले लिया जाता है।

खड़ी बोली का इतिहास

खड़ी बोली का इतिहास एक लम्बा चौड़ा विषय बन सकता है परन्तु इस पुस्तक के लिये संक्षेप में सिद्धान्त भूत

बात यह है कि खड़ी बोली देहली मेरठ तथा इनके आस पास के प्रांत की बोलचाल की भाषा रही है। सं० ९०० के लगभग अपभ्रंश भाषाओं से जिस प्रकार हिन्दी के अन्य रूपों का विकास हुआ, उसी प्रकार इस प्रान्त में व्यवहृत अपभ्रंश से खड़ी बोली का जन्म हुआ था। भाषातत्वशास्त्र की व्यवस्था से ब्रज को (जिसकी उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंश से थी) जैसे हिन्दी कहते हैं, पूर्वी हिन्दी को (अवधी आदि को जिनकी उत्पत्ति अर्धमागधी आदि अपभ्रंशों से हुई) जैसे हिंदी कहते हैं, उसी प्रकार खड़ी बोली को भी (जिसकी उत्पत्ति नागर अपभ्रंश की किसी एक उपशाखा से हुई) हिंदी कहते हैं। वर्तमान काल से पूर्व साहित्य में इसका प्रयोग न हो पाया (यह अपना अपना भाग्य)।

औरंगजेब के समय में देहली में उर्दू शायरी प्रारम्भ हो गई थी। उर्दू का आधार (जैसा आगे दिखाया जायगा) खड़ी बोली थी। उर्दू लेखकों का प्रारम्भ से ही यह प्रयत्न रहा है (यह सिद्ध किया जा सकता है) कि खड़ी बोली से हिन्दी के शब्द निकाले जाएँ। और उनके स्थान में अरबी और फारसी के शब्द भर दिये जाएँ। उर्दू साहित्य का इतिहास प्रारम्भ से अबतक इसी चेष्टा का इतिहास है।

मुगल साम्राज्य के पतन के साथ साथ यूं तो व्यवहार में खड़ी बोली का प्रयोग बढ़ा (क्योंकि देहली में आए दिन के आक्रमणोंके भय के कारण यहाँ के व्यापारी इधर उधर यू० पी० में फैल गये) परंतु साहित्य में हिंदी लेखक तो ब्रज का ही प्रयोग कर रहे थे (यह रीति काल था) और उर्दू साहित्य (जिसका प्रारम्भ दक्षिण से हुआ) के ठेकेदार खड़ी बोली का रूप बिगाड़ कर उर्दू नाम की नई भाषा गढ़ रहे थे। आगे चल कर जब भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी का

राज्य स्थापित हुआ, संवत् १८९३ तक इनके काल में भी फारसी ही कचहरी की भाषा रही परन्तु जनता के आग्रह से इसके बाद इन्होंने कचहरी और अदालतों के लिये कभी उर्दू को, कभी खड़ी बोली को जनता की भाषा माना और उसमें कार्य प्रारम्भ कर दिया, और तीतर बटेर के लड़ाई का सा यह क्रम कुछ काल तक चला, अन्त में हमारे गौराङ्ग प्रभुओं का निर्णय हुआ कि उर्दू ही जन भाषा है। (ऐसा क्यों यह वार्तान्तर है) और इसी का प्रयोग दफ्तरों तथा कचहरियों में होना चाहिए। अब तक चाहे उर्दू शायरी भी बहुत हो चुकी थी, और हिंदी साहित्य भी अच्छा समृद्ध हो गया था परन्तु सं० १८६० में जब गिल क्राइस्ट (फोर्ट विलियम कालिज, कलकत्ता के प्रिंसिपल) ने स्कूलों के लिये गद्य पुस्तक मांगीं तो न हिंदी की पुस्तकें मिल सकीं न उर्दू की।

इस प्रिंसिपल महोदय ने हिंदी उर्दू दोनों भाषाओं में कुछ गद्य पुस्तकें लिखवाई और उन्हें स्कूलों में लगवाया परन्तु बोल बाला उर्दू का ही रहा। इतने में गदर का समय आ गया जिसके अनंतर राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद जो स्कूलों के इंसपेक्टर भी थे के प्रयत्नों से हिंदी (खड़ी बोली) को भी स्कूलों में उर्दू के साथ पूरा स्थान मिला और हरिश्चंद्र युग के समाप्त होते-होते हिंदीनागरी प्रचारिणी सभा के तत्वावधान में हिंदी हिंदू, हिंदुस्तान आंदोलन के कारण (जिस में महामना पं० मदनमोहन मालवीय ने भी सहयोग दिया) हिंदी भी कचहरी और दफ्तरों की भाषा स्वीकार कर ली गई। उधर गदर के समय ४० वर्ष पूर्व से और गदर के समय के अनंतर विशेष कर हरिचंद्र युग के प्रारम्भ होते हैं—जब खड़ी बोली का साहित्यक रूप निश्चित हुआ गद्य पद्य दोनों के लिये हिंदी लेखकों ने खड़ी बोली (मुख्य रूप से) स्वीकार कर ली और इस प्रकार साहित्य में हिंदी का

खड़ी बोली रूप आगया। यह खड़ी बोली वह ही खड़ी बोली थी जिसका जन्म हिंदी के अन्य रूपों के साथ साथ, ९०० सं० में हुआ था। मुसलमानों के पक्षपात के कारण मुसलिम युग में ही इसके दो रूप हो गये।

(१) उर्दू जिसका मुसलमानों में प्रयोग होता रहा और जो हिंदी से निकल कर उत्तरोत्तर अरबी और फारसी के शब्दों से भरी जाने के कारण प्रतिदिन अधिक से अधिक विदेशी प्रतीत होने लगी।

(२) खड़ी बोली जिसका मौलिक रूप हिंदुओं में प्रचलित रहा और जिसमें मुसलमानों के पक्षपात के कारण धीरे धीरे संस्कृतके शब्द बढ़ते रहे और जो वर्तमान युग में श्री मैथिलीशरण जी जैसों के हाथों में आकर संस्कृत की छोटी बहिन सी प्रतीत होने लगी।

अब इतना और बताना रहा कि इसमें क्या प्रमाण है कि खड़ी बोली का जन्म सं० ९०० के लगभग हुआ, जब यहाँ उर्दू का निशान तो दूर रहा फारसी का भी पता न था? उत्तर सुनिये।

(१) १००० सं० के लगभग अपभ्रंश भाषा का जो साहित्यिक रूप था, उसमें खड़ी बोली की झलक है। तथाहि "भल्ला हुआ जु मारिया, वहिणी! महारा कंतु!"

(२) खुसरो (१४ वीं शताब्दी) ब्रज के साथ साथ खड़ी बोली का खूब प्रयोग करते थे। भारत में फारसी के ये प्रथम कवि थे)

(३) कबीर की भाषा में खड़ी बोली का अच्छा पुट मिलता है। तथाहि

"आऊँगा न जाऊँगा, मरूँगा न जीऊँगा"

(४) अकबर के दरबार में (जब उर्दू भाषा बनाई जा रही थी) गंग कवि ने "चंद छंद बरनन की महिमा" एक गद्य पुस्तक

खड़ी बोली में लिखी। इस पर अधिक प्रकाश गद्य का इतिहास देते हुये डाला जायगा।)

नोट—इसके अनंतर देखने की बात यह है कि इतने लेखों में खड़ी बोली का प्रयोग मिलता है तो यही स्वीकार करना पड़ेगा कि खड़ी बोली का पर्याप्त प्रचार था।

उर्दू और उर्दू साहित्य क्या है, यह भी उर्दू साहित्य के इतिहास के अनुसार सुन लीजिए। देहली के खड़ी बोली के बोलने वाले मुसलमान और मुस्लिम सैनिक जब दक्षिण में गये और बसे तथा वहाँ की परिस्थिति (जिसे यहाँ दिखाने की आवश्यकता नहीं) से बाध्य हो उनमें जब हिन्दू मुसलिम एकता की भावना जागृत हुई तो उन्होंने फारसी की उपेक्षा करके हिन्दी भाषा को शाइरी में स्थान दिया जिसका श्रेय 'वली' को है। फिर तो मुसमानों ने इस भाषा में लिखना प्रारम्भ किया। दक्षिण स्कूल, देहली स्कूल, लखनऊ स्कूल, आदि का जन्म हुआ और उस हिन्दी का रूप बिगाड़ कर (अर्थात् उसमें से हिन्दी शब्द निकाल कर अरबी फारसी के शब्द भर कर) उसे उर्दू एक नया नाम दे दिया। वली का समय=सन् १६६० है। यह है उर्दू के जन्म की कथा और उर्दू साहित्य के प्रारम्भ की चर्चा। विचार करें उर्दू आ कहाँ से सकती थी। मुसलमान अपने साथ फारसी लाए। यहाँ की भाषा हिंदी थी जिसके सीखे बिना उनका काम ही नहीं चल सकता था। महाराज टोडरमल ने जहाँ हिंदुओं को फारसी सीखने का आदेश दिया, वहाँ मुसलमान अफसरों को हिंदी सीखने की आज्ञा दी थी। अतः यह बिगड़ी हिंदी ही उर्दू हो सकती है और यह युक्ति सिद्ध भी है। किञ्च अकबर और जहाँगीर के समय राजाज्ञाओं का अनुवाद खड़ी बोली में करने के लिए अनुवादकों का रखना इतिहास से सिद्ध है।

दूसरा प्रश्न अर्थात् वर्तमानकाल से पूर्व हिन्दी गद्य का इतिहास

वर्तमान युग में आकर हिंदी साहित्य में गद्य धारा का वर्णन किया, यह इस मत की सिद्धि के लिए पर्याप्त प्रमाण है कि वर्तमान युग से पूर्व हिंदी साहित्य में गद्य बहुत थोड़ा था। उसका संक्षिप्त इतिहास इस प्रकार है।

यह आदि में समझे रहे कि वर्तमान काल से पूर्व का जो हिंदी गद्य मिला है वह हिंदी की दोनों उपभाषाओं में है।

(१) ब्रज में तथा (२) खड़ी बोली में (जैसा ऊपर संकेत कर आए हैं।

ब्रज भाषा गद्य

ब्रजभाषा गद्य के सर्वथा अनुपयुक्त है अतएव जब तक ब्रज ही मुख्य रूप से साहित्यिक भाषा रही तब तक हिन्दी साहित्य में गद्य का विकास नहीं हुआ।

(१) सं० १४०० शताब्दी के अन्त का अथवा १५०० शताब्दी के प्रारम्भ का गोरखपन्थी साधुओं के ग्रंथों से कुछ गद्य मिला है जिसका उन्होंने पत्रादि में व्यवहार किया था जो ब्रज भाषा में है और जिसका उदाहरण:—

"श्री गुरु परमानन्द तिनको दंडवत है। हैं कैसे परमानन्द, आनन्द स्वरूप है शरीर जिन्हि को..............।

(२) सुनते हैं श्री विट्ठलनाथ जी ने 'शृंगार रस मंडन' नामक एक ग्रंथ ब्रज गद्य में लिखा। उदाहरण

"प्रथम की सखी कहतु है"........

(३) "चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता" "दो सौ वैष्णवों की वार्त्ता" १७ वीं शताब्दी के अन्त की लिखी हुई दो ब्रज गद्य की पुस्तकें हैं। "दो सौ वैष्णवों की वार्ता" को खण्डन ब्राह्मण की

कथा तात्कालिक हिन्दी गद्य का नमूना है। कथा किसी इतिहास की पुस्तक से पढ़ लेवें।

(४) सं० १७६० की लिखी हुई एक और पुस्तक "नासिकेतोपाख्यान" ब्रज गद्य का उदाहरण है।

(५) जयपुर नरेश की आज्ञा से हीरालाल ने सं० १८५२ में "आईन-अकबरी की भाषा वचनिका" लिखी जो ब्रज गद्य की पुस्तक है। उसमें अरबी फारसी के भी शब्द हैं।

नोट—इनके अतिरिक्त संस्कृत श्लोकों की टीका करने आदि में भी ब्रज गद्य का प्रयोग होता था जिसके उदाहरण इधर उधर से ले लें। खड़ी बोली में गद्य का इतिहास देते हुए गंग कवि तक का हम वर्णन कर चुके हैं। आगे का संक्षिप्त इतिहास इस प्रकार है।

खड़ी बोली में गद्य

(१) अकबर और जहाँगीर के समय में राजाज्ञाएँ खड़ी बोली में होती थीं यह ऊपर लिखा जा चुका है।

(२) विक्रम सम्वत् १७९८ से १८६० तक के बहुत से लेख मिले हैं जिनमें खड़ी बोली का प्रयोग पाया जाता है और जिनका क्रमिक इतिहास देख कर हम यह कह सकते हैं कि धीरे-धीरे खड़ी बोली का रूप निखरता जा रहा था। 'भाषायोगवाशिष्ठ' की भाषा देखिये कितनी स्पष्ट है।

(३) सं० १८६० में गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से हिन्दी गद्य को बड़ा प्रोत्साहन मिला और इस समय के चार लेखक बड़े प्रसिद्ध हैं जिन्हें हिन्दी संसार वर्तमान हिन्दी गद्य के जन्मदाता मानता है। इन चारों के नाम इस प्रकार हैं:—

१. मुंशी सदासुखलाल २. इंशाअल्लाहखाँ ३. लल्लूलाल ४. सदलमिश्र।

१. मुंशी सदासुखलाल—

ये देहली निवासी थे। जन्म १८०३ में हुआ और मृत्यु १८८१ में ये कम्पनी के उच्च पदाधिकारी थे। ये भक्त आदमी थे और नौकरी छोड़ कर प्रयाग चले गये थे। इन्होंने हिन्दी-उर्दू में बहुत सी पुस्तकें लिखीं। इन्होंने प्रचलित भाषा में लिखा और संस्कृत शब्दों का भी प्रयोग किया।

२. इन्शाअल्लाहखाँ:—ये उर्दू के बड़े प्रसिद्ध कवि हुए हैं। हिन्दी में रानी केतकी की कहानी लिखी है जिसमें ठेठ हिन्दी शब्दों का प्रयोग किया है और किसी भाषा का शब्द नहीं आने पाया।

३. लल्लूलाल जी। जन्म १८२० में और मृत्यु १८८२ में। ये आगरा के रहने वाले गुजराती ब्राह्मण थे। ये १८६० में फोटविलियम में हिन्दी के अध्यापक बने और खड़ी बोली गद्य में "प्रेम सागर" लिखा। कृष्ण चरित होने के कारण भाषा में (खड़ी बोली के साथ) ब्रज का बहुत मिश्रण हो गया। ये उर्दू के भी ज्ञाता थे और उसमें पुस्तकें भी लिखीं। ब्रज के तो पंडित थे ही।

सदल मिश्र

ये भी विहार के पण्डित थे। फोर्टविलियम में काम करते थे। इनका खड़ी बोली में लिखा हुआ 'नासिकेतोपाख्यान' प्रसिद्ध गद्य-ग्रंथ है। इसमें पूर्वी बोली के शब्द तथा ब्रज के शब्द भी कहीं-कहीं आ गए हैं। सारे ग्रंथ की भाषा दैनिक व्यवहार की है।

नोट—यद्यपि उपर्युक्त चारों लेखकों को वर्तमान हिन्दी गद्य का जन्म-दाता कहा है परन्तु यह मानना पड़ता है कि इनके बाद फिर लगभग पचास वर्षों तक अर्थात् गदर के समय तक गद्य का विकास रुका ही रहा।

इस पचास वर्ष में भी जिसे हिन्दी साहित्य का शून्यकाल कह सकते हैं कुछ गद्य अवश्य लिखा गया। तथाहि

(१) ईसाइयों ने अपने धर्म प्रचार के लिए लल्लुलालादि के गद्य के ढंग पर कुछ पुस्तकें लिखवाईं और गद्य के व्यवहार की उनके द्वारा वृद्धि हुई।

(२) छापेखाने के खुल जाने से इस काम में सहायता हुई। आर्यधर्म के उच्च स्वरूप को दर्शाने के लिए राजा राममोहन राय ने वेदांत सूत्रों के भाष्य का हिन्दी अनुवाद कराया तथा बंगाली होते हुए भी हिन्दी में पत्र निकाला और इससे भी गद्यशैली के विकास को सहायता मिली।

(३) स्वामी दयानंद सरस्वती ने भी अपना अमर ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' हिंदी गद्य में लिखा जिससे हिंदी गद्य को बड़ी सेवा हुई।

सन सत्तावन के बलवे के अनंतर हिंदी गद्य का विस्तार खूब हुआ जिसका प्रधान कारण यह था कि खड़ी बोली गद्य रचना के अनुकूल है। यदि गद्य का कुछ विकास ब्रजभाषा में हो गया होता तो वर्तमान काल में जब गद्य की मांग हुई यह एक समस्या खड़ी हो जाती कि गद्य के लिए ब्रज को अपनाया जावे या खड़ी बोली को। यह अच्छा ही हुआ कि खड़ी बोली के लिए क्षेत्र रिक्त था। स्पष्ट बात तो यह है कि खड़ी बोली का प्रभाव बढ़ना ही था क्योंकि वर्तमान युग में गद्य और पद्य दोनों के लिए खड़ी बोली का ही प्रयोग हुआ।

पद्य धारा का इतिहास

यह हम पुस्तक के प्रारम्भ में बता चुके हैं कि काव्य दो प्रकार का होता है एक प्रबंध (महाकाव्य और खण्डकाव्य) और दूसरा मुक्तक। वर्तमान युग में भी प्रबंध काव्य और मुक्तक का इतिहास ही पद्य धारा का इतिहास है। पहिले इस काल के प्रबंध काव्य की ओर दृष्टि दें, जो इस प्रकार हैं।

नोट—

वर्तमान कालिक हिंदी साहित्य के इतिहास (गद्य और पद्य दोनों के इतिहास) को ठीक ठीक समझने के लिए क्रमिक विकास के आधार पर उसे तीन युगों में विभक्त करना सुसंगत प्रतीत होता है:—

(१) हरिश्चंद्र युग । सं० १९२५–१९५०—(इस युग में हर ओर परिवर्तन प्रारम्भ हुआ परन्तु विशेष कार्य सम्भव न था)'

(२) द्विवेदी युगः—सं० १९५०

इस युग में स्वदेश प्रेम भावना का खूब प्रचार हुआ, तथा नये विषय लेकर बहुत कवि आगे आए और इसका श्रेय महावीर प्रसाद द्विवेदी को है जिन्होंने सरस्वती के द्वारा हिन्दी साहित्य की अपूर्व सेवा की। आपने अंग्रेजी कविताओं का हिन्दी खड़ी बोली पद्य में बड़ा सुन्दर अनुवाद किया।

(३) प्रसाद-पंत-निराला युगः—

यह ही आधुनिक युग है इसे क्रान्ति युग भी कहते हैं। इसमें कवियों की वाणी देश वासियों को "स्वतन्त्रता देवी की वेदी पर बलिदान के लिए प्रोत्साहित करने लगी तथा सर्वत्र राजनैतिक और आर्थिक परतन्त्रता की विरोध भावना जगी। खड़ी बोली की कविता में इस युग में छन्द के बन्धन को तोड़कर अच्छी श्री प्राप्त की।

हरिश्चन्द्र युग में जो पद्य लिखा गया वह मुक्तक ही रहा था। इस युग के कवियों का गद्य की ओर अधिक ध्यान था परन्तु यह ध्यान रहे कि भारतेन्दु के मित्र मण्डल में कुछ ऐसे थे जो फुटकर कविता लिखते थे।

हरिश्चंद्र युग में जो पद्य लिखा गया वह मुक्तक ही रहा। द्विवेदी युग के दो प्रबंध काव्य बहुत ही प्रसिद्ध हैं (1) मैथिली

शरण गुप्त का साकेत और (2) अयोध्यासिंह जी (हरि औध) का प्रिय प्रवास। 'नारी गौरव' गाथा का गान करने वाला गुप्त जी का महाकाव्य 'यशोधरा' भी अपूर्व ग्रन्थ है।

रामचरित-मानस एक संत द्वारा लिखित भक्ति-युग का महाकाव्य है। साकेत और प्रियप्रवास बुद्धिवाद की देन है गुप्तजी वर्तमान युग के महाकवि हैं। इन्होंने श्रीराम को ईश्वर माना है परंतु हरिऔध जी ने तो बुद्धिवाद से प्रवाहित होकर श्रीकृष्ण को लोकरक्षक मानकर कर्तव्य परायण और लोक हित रत दिखाया है अतएव यशोदा उनके वापिस करने का आग्रह नहीं करती। बुद्धिवाद के प्रभाव में ही इन्होंने गोवर्धन धारण को भी रूपक स्वीकार किया है। साकेत तो प्रबन्ध काव्य है ही। प्रिय-प्रवास किसी-किसी विद्वान् ने 'एकार्थ काव्य' माना है और युक्ति यह दी है कि विरहनिवेदन इसका मूल विषय है। परन्तु हमारी सम्मति में इसे महाकाव्य मानना भी पूर्ण युक्ति सङ्गत प्रतीत होता है। साकेत की कथा रामायण की होते हुए भी इसमें भरत का चरित्र बड़ा ऊँचा उठाया है।

(ख) श्री द्वारिक प्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन' जिसमें भगवान् कृष्ण का आद्योपांत कथानक दिया है इस युग का एक और सुन्दर महाकाव्य है। उपर्युक्त दो महाकाव्यों के साथ इसे भी याद रखें।

(ग) प्रसाद युग का प्रसिद्धतम महाकाव्य कामायनी है। श्री प्रसादजी इसके लेखक हैं। यह विचार प्रधान ग्रन्थ है और इसकी कथा का आधार शतपथ ब्रह्मणादि प्राचीन वैदिक ग्रन्थ हैं। बुद्धि-वाद का प्रभाव इसमें भी अपूर्ण है। कामायनी श्रद्धा का दूसरा नाम है। अज्ञानावस्था में मनुष्य की इच्छा, ज्ञान और क्रिया में परस्पर समन्वय नहीं रहता अतः आत्मा आनन्द स्वरूप होते हुए भी आनंद प्राप्ति से वञ्चित रहता है। पूर्णरूप से श्रद्धा का

मूल्य समझे बिना श्रद्धा प्राप्त होने पर भी मनुष्य तात्विक सुख प्राप्ति से दूर रहता है। परंतु श्रद्धा ऐसी ही वस्तु है जिसके द्वारा मनु मुक्ति रूप लक्ष्य प्राप्ति कर सकता है। यह सत्य है कि ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है परन्तु श्रद्धा अथवा भक्ति के बिना ज्ञान अपूर्व रहता है।

कामायनी में प्रसाद जी ने यह ही दिखाया है कि श्रद्धा के परित्याग से मनु को दुःख प्राप्त हुआ। ईड़ा के जो बुद्धि की प्रतीक है प्रेम होने पर भी उसमें कामवासना का सञ्चार होता है परंतु श्रद्धा की कृपा से जो मानव को लेकर ढूढ़ती हुई मनु के पास आई और मानव को ईड़ा के पास छोड़कर (इसमें रहस्यवाद है) मनु को लेकर कैलाश की ओर चली गई, इच्छा, ज्ञान और क्रिया तीनों विंदु फिर एक हो गए और मनु को चिराभिलषित आनंद प्राप्त हुआ।

प्रसाद की कामायनी में जो ज्ञान का नीचा स्थान प्रतीत होता है, वह अतात्विक ज्ञान है तात्विक ज्ञान के बिना कोरी श्रद्धा से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। सारा ज्ञान देकर भगवान् कृष्ण १८वीं अध्याय में अर्जुन को कहते हैं "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" पहले नहीं।

(घ) पं० बल्देव प्रसाद का लिखा हुआ 'साकेत संत' जिसके नायक भरत हैं एक और महाकाव्य है और अपनी विशेषता रखता है। श्रीराम को राजतिलक देने के समय श्री दशरथ ने भरत को क्यों नहीं बुलाया, इस प्रश्न पर मिश्र जी ने अच्छा प्रकाश डाला है। इस महाकाव्य में देश की अखण्ड सांस्कृतिक एकता की पुकार की झलक स्पष्ट दिखाई देती है।

(ङ) दिनकर जी का लिखा 'कुरुक्षेत्र" जिसमें महाभारत की कथा के आधार पर मानव सभ्यता के विकास के इतिहास में युद्ध भी अनिवार्य है सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है।

इसमें यह भी बताया है कि युद्ध अनावश्यक वस्तु हो सकती है यदि इस लोक से रागादि द्वेष दूर हो जाय। ये सब बुद्धिवाद है।

नोट—

वर्तमान समय में दैत्य वंश एक ब्रजभाषा में महाकाव्य लिखा है।

खण्ड काव्य

नरोत्तमदास के "सुदामा चरित्र" और जटमल के 'गोरा-बादल' वर्तमान काल में कई खण्ड काव्य मिलते हैं।

(1) गुप्तजी के जयद्रथ वध, अनघ और नहुष, रत्नाकर जी के 'उद्धव शतक' और 'गंगावतरण' रामनरेश त्रिपाठी का 'पथिक' और 'स्वप्न' और सियाराम शरण का 'उन्मुक्त' अच्छे खण्ड-काव्य हैं।

मुक्तक

यह तो पहिले बताया जा चुका है कि काव्य में परस्पर सम्बन्ध से मुक्त होने के कारण मुक्तक को मुक्तक कहते हैं। इस के स्थूलदृष्टि से दो भेद हैं:—

(१)पाठ्य **मुक्तक**—(कवि उपदेष्टा के रूप में सुन्दर तथ्य वर्णन करता है। जैसे रहीम के दोहे, कबीर की साखी। वीर दोहे, नीति के दोहे तथा स्फुट कविताएँ भी इसके उदाहरण हैं)।

(२) **गेय मुक्तक**—(ये भी पाठ्य हैं, परन्तु गीति के अधिक उपयुक्त हैं और भाव पूर्ण हैं। इनमें कवि एक भाव को पकड़ता है, उस की पुष्टि में अन्य वचन कहता है परन्तु हिर फिर कर उसी भाव पर आता है जैसे प्रभु मोरे अवगुण चित न धरो......)।

वर्तमान काल से पूर्व के पाठ्य तथा गेय उभय विध मुक्तक का वर्णन हो चुका, परन्तु क्रम ठीक रखने के लिए दो चार पंक्तियों में उनका उल्लेख फिर कर दिया जाता है।

पाठ्य मुक्तक

विहारी सतसई(शृङ्गार मुक्तक), वियोगी हरि की 'वीर सतसई' (वीर मुक्तक), गिरधर की कुण्डलियाँ, वृंद, रहीम तथा कबीर के दोहे (नीति मुक्तक) तथा तुलसीदास जी की दोहावली (भक्ति मुक्तक) और आल्हाखण्डादि अन्य फुटकर तथा स्वतन्त्र कविताएँ।

गेय मुक्तक

वर्तमान काल से पूर्व संक्षेप में गेय मुक्तक से हमारा तात्पर्य उस कविता से है जो इकतारे आदि पर गाई जा सकती थी तथा जिसका विषय कवि का अपने उपास्य देव के चरणों में आत्म-निवेदन अथवा आत्मसमर्पण था। यह हम मानते हैं कि गेय मुक्तक का आत्मनिवेदन विषय बताना उसकी परिभाषा को संकुचित करना है क्योंकि भावातिरेक गेय मुक्तक की आत्मा है और भावातिरेक आत्मनिवेदन के रूप में ही प्रकट हो यह आवश्यक नहीं अर्थात् भाव भेद से गेय मुक्तक के कई भेद हो सकते हैं, परंतु वर्तमान काल से पूर्व हिन्दी साहित्य में आत्म-निवेदन ही गेय मुक्तकों का विषय रहा।

(२) द्विवेदी युग के गीति काव्य के प्रतिनिधि कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त हैं। उनका प्राचीन गौरव गाथा गान पतित हृदयों में भी धार्मिक भावना तथा चरित्र शुद्धि का विचार पैदा करता है। उनकी 'भारत भारती' गीति काव्य की अनुपम पुस्तक है इस युग में आत्मनिवेदन की ओर कवियों का ध्यान न था अपितु आत्मसुधार की ओर—

(३) प्रसाद-पन्त निराला युग में गीति काव्य का क्षेत्र और भी बढ़ गया। तथापि प्रारम्भ में गीति काव्य या रहस्यवाद सम्बन्धी कविता का विषय केवल एक ही था अर्थात् आत्म निवेदन या आत्म समर्पण और इसी का दूसरा नाम था रहस्यवाद। भारतेन्दु युग में आकर रहस्यवाद के दो रूप हुए: —

(१) पुरातन आत्मनिवेदन या रहस्यवाद (२) राष्ट्रिय भावना।

प्रसाद-पन्त निराला युग में, रहस्यवाद का अर्थ भी बढ़ा तथा गीति काव्य का क्षेत्र भी विस्तृत हुआ अर्थात् हरिश्चन्द्र युग और द्विवेदी युग में हरेक विषय में वृद्धि हुई थी परन्तु इस युग में आकर और वृद्धि हुई। तथाहि।

अब तक रहस्यवाद का तात्पय केवल आत्मसमर्पण था। इस युग में रहस्यवाद के पाँच रूप हुए:—

(१) उपासना सम्बन्धी आत्मनिवेदन रूप रहस्यवाद, जैसे तुलसी, सूर का। यद्यपि इन संत कवियों को ईश्वर का साक्षात्कार था परन्तु 'गिरा अनयन, नयन बिनु बानी' के अनुसार भगवान् का स्पष्ट वर्णन कैसे सम्भव है। वह तो रहस्य ही रहेगा।

(२) प्राकृतिक रहस्यवाद

प्रकृति भी उस समष्टि रूप विराट् पुरुष के दर्शन की दर्पण है। प्रकृति स्वयं इतना महत्त्व रखती है किन्तु वह विराट् सत्ता द्योतिका है। नदी, नाले, पहाड़, आकाश सब उस परमात्मा की अनुभूति के सहायक रूप से वर्णित होते हैं।

(३) दार्शनिक रहस्यवाद, जैसे कबीर, दादू, प्रसाद और निराला का, जिसमें जिज्ञासा और बुद्धि तत्त्व का आधिक्य रहता है। विषय आत्मा और परमात्मा तथा उनका सम्बन्ध ही रहता है। भेद प्रदर्शन इच्छा से पृथक् वर्णन हैं।

(४) दाम्पत्य सम्बन्धी रहस्यवाद जो आत्मसमर्पण की पराकाष्ठा है जैसे कबीर और मीरा का। मीरा 'गिरधर नागर को छोड़ अन्य कुछ जानती ही नहीं थी। यह आत्मनिवेदन है।

(५) यौगिक रहस्यवाद:—इसमें आसनों की प्रधानता तथा कर्मकाण्ड की (जो अभिचार प्राय होता है) प्रधानता रहती है जैसे शाक्तों का, साधुओं का, कहीं कहीं कबीर का—

अब गीति काव्य के विषय वृद्धि की ओर ध्यान दें। अब तक इसके विषय दो थे—एक रहस्यवाद, दूसरा राष्ट्रिय गीत। प्रसाद-पंत-निराला युग में छायावाद एक तीसरा विषय आ गया।

छायावाद—का साधारण तात्पर्य है प्रकृति में व्यक्तित्व का आरोप करके उसमें मानवी चेष्टाओं का आधान और निधान। रहस्यवाद और छायावाद दोनों में दृष्टि अन्तर्मुखी है परन्तु छायावाद कल्पना प्रधान है और रहस्यवाद अनुभूति प्रधान! यह भेद होते हुये भी प्रसाद-पंत-निराला युग में ऐसे गीतों की सृष्टि हुई जिसे छायावाद परिपोषित रहस्यवाद कहना अधिक उपयुक्त है और इस सुन्दर समन्वय वाद के तत्वावधान में अधोलिखित प्रवृत्तियाँ काव्य में दृष्टिगोचर होती हैं। जहाँ छायावाद और रहस्यवाद पृथक्-पृथक् भी रहते हैं, कहीं एक के अनन्तर दूसरा आया और कहीं दोनों की सुन्दर सरिताएँ मिल कर चलती हैं। उन प्रवृत्तियों के आधार पर प्रसाद-पंत-निराला युग के गीति काव्य का विभाजन अधो-लिखित प्रकार से है:—

(१) **आध्यात्मिक गीत**:—यह शुद्ध रहस्यवाद की कविता है और उसमें परमेश्वर से मिलन के सुख का और विरह दुख का वर्णन दोनों मिलते हैं। वर्तमान युग में विरह वर्णन का आधिक्य है।

(२) **जीवन सम्बन्धी गीतः**—इसमें जीवन के आदर्शों पर, उसके सुख दुःख, उसकी आशा निराशा पर अच्छे वचन मिलते हैं।

(३) **गान्धीवाद से प्रभावित राष्ट्रिय गीतः**—इसमें परिवर्तन के लिए पुकार है परन्तु अहिंसात्मक रीति से। इसमें मार काट की भावना अथवा हिंसा पूर्ण विद्रोह की भावना का अभाव है।

(४) **प्रकृति के गीतः**—जिसमें शुद्ध छायावाद की प्रधानता है। इस कविता में प्राकृतिक रहस्यवाद भी मिलता है।

(५) **लोक सम्बन्धी प्रेम के गीतः**—इसमें अपने ढंग के प्रेम और शृंगार सम्बन्धी गीत सम्मिलित हैं।

अब किसका कौन प्रमुख प्रतिनिधि कवि है इस विषय की ओर आइये तथाहि:—

प्रसाद और महादेवी के आध्यात्मिक गीत सुन्दर हैं। जीवन सम्बन्धी गीत पंत जी ने बड़े सुन्दर लिखे हैं। राष्ट्रिय गीत गायकों में प्रसाद पन्त और निराला तीनों बढ़े हुए हैं। प्रकृति के गीत प्रसाद निराला, पन्त और महादेवी वर्मा के सर्वोत्कृष्ट हैं। लोक सम्बन्धी प्रेम के गीत यद्यपि प्रगतिवादि कवियों का मुख्य विषय है परन्तु प्रसाद के नाटकों में ऐसे गीतों की कमी नहीं हैं। लोक सम्बन्धी प्रेम के गीत गाने वालों की चर्चा करते समय पन्त जी को भी नहीं भूल सकते। पन्त जी का प्रकृति वर्णन, निराला जी का छायावाद, सुभद्रा कुमारी के राष्ट्र गीत विशेष रूप से पठनीय हैं।

नोट—

हिन्दी में और भी कई प्रकार के वाद प्रसिद्ध हैं, जैसे हालावाद, कलावाद, अभिव्यञ्जनावाद, प्रतीकवाद, प्रगतिवाद आदि।

प्रगतिवाद को अंत में लिया जाएगा और इसका विवेचन भी विशेष रूप से किया जायगा।

कलावाद

उस सिद्धान्त या विचार को कलावाद कहते हैं जिसके द्वारा कला कला के लिए है और उसका जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, ऐसा मानते हैं और जिसके अनुसार काव्य में कल्पना का प्रधान स्थान है।

अभिव्यञ्जनावाद

यह वह वाद है जिसमें प्रस्तुत से अप्रस्तुत की ओर संकेत रहता है।

प्रतीकवाद

यह छायावाद का दूसरा नाम है परन्तु इसे आध्यात्मिक प्रतीकवाद कहना अधिक युक्ति संगत है। यह यूरोपीय काव्य-क्षेत्र में प्रचलित 'शिवोलिज्म' शब्द के अनुसार है।

हालावाद

यह कवि की एक प्रवृत्ति है जिस में कविता लिखने की इच्छा रूपी मदिरा का पान कर कर अनेक कारण जन्य वेदना को भूलना चाहता है।

प्रगतिवाद

प्रगतिवाद वह बाद है जिसके अनुसार कविता को छायावाद, रहस्यवाद, कलावाद और अभिव्यञ्जनावाद की परिधि से निकाल कर जीवन के सम्पर्क में लाने की प्रतिक्रिया हुई। इसके अनुसार भूखों का गान, किसानों और मजदूरों से सहानभूति, धनो ज़मीदारों तथा मिलमालिकों को कोसना कविता के विषय बने। इतना ही नहीं प्रगतिवाद की छाया में कुप्रथाओं की

निन्दा और उनके प्रति विद्रोह की भावना जागृत करने वाली कविताओं का निर्माण हुआ। प्रगतिवाद के पोषक अपने को दीन दुखियों का रक्षक, सुधारवादी तथा साम्यवादी कहते हैं।

प्रगतिवाद आधुनिक युग में हिन्दी गीति काव्य का मुख्य विषय है और श्री गुलाबराय एम. ए. के अनुसार इसके पाँच मूल विषय हैं :—

(१) किसान मज़दूरों के प्रति सहानुभूति तथा पूंजीपतियों और अन्य शोषक वर्ग के प्रति विद्रोह।

(२) रूस, मास्को और लाल सेना का यश गान।

(३) उन्मुक्त प्रेम।

(४) गांधीवाद के प्रति विद्रोह और मार्क्सवाद का समर्थन।

(५) हिन्दू मुसिलम ऐक्य।

प्रगतिवाद के कवि

पंत, निराला, उदय शङ्कर भट्ट, दिनकर तथा अञ्चल नरेन्द्र आदि हैं। किसी ने किसान मज़दूरों का पक्ष लिया है, किसी ने नंगे भूखों की पुकार लिखी है, किसी ने रूस के गुण गाए हैं तथा बड़ी उत्सुकता से लाल सेना और उसके वीर कृत्यों का वर्णन किया है, किसी ने रूढियों के प्रति विद्रोह की गूँज उठाते हुए अनेक शृङ्गारिक गीत (उन्मुक्त प्रेम के गीत) गाये हैं, तो किसी ने धर्म को सर्वथा तिलाञ्जलि दिला कर मुसलिम ऐक्य के राग अलापे हैं।

साम्यवादी अनेक प्रगतिवादी अपनी सिद्धान्त पूर्ति के लिए मातृभूमि के हित की भी उपेक्षा का प्रचार करते हैं। कहाँ तक ऐसे विचार वाञ्छनीय हैं, इसका पाठक स्वयं निर्णय करें।

इनकी भाषा तथा भावों में स्पष्टता है। छन्दों का नियत रूप इन्होंने बहुत कम स्वीकार किया है। रीति के योग्य प्रवाह इनकी रचना में अच्छा प्रशंसनीय है।

ब्रजभाषा के कवि

आधुनिक युग में ब्रजभाषा के कवि आठ दस के लगभग हैं जैसे पं० रामचरित उपाध्याय, रामचन्द्र शुक्ल, पंडित कामता प्रसाद गुरु, पं० गिरधर शर्मा, सियाराम शरण गुप्त,वियोगीहरि। इनमें से सब से पहिले श्रीधर पाठक हैं परन्तु दो का नाम विशेष रूप से लेखनीय है:—

(१) पं० सत्यनारायण शर्मा कविरत्न

(२) बा० जगन्नाथदास रत्नाकर

पं० सत्यनारायण शर्मा कविरत्न ब्रज के रहनेवाले थे और भगवान् कृष्ण के परमभक्त थे। बड़े रसिक कवि और शान्त प्रकृति के सज्जन थे। बड़ी सुन्दर और नीकी ब्रज लिखते थे और देश प्रेम भी आपकी कविता में पूर्णरूप से पाया जाता है।

बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर

इनकी ब्रजभाषा भी बहुत सुन्दर है और इतनी सुन्दर कि आधुनिक काल के आप ब्रजभाषा के सबसे उच्च कवि हैं। इनके विषय में सुना जाता है कि ये ब्रजभाषा सुनाने के बड़े प्रेमी थे और अवसर मिलने पर जब ब्रजभाषा में कवित्त सुनाने खड़े होते तो न ये स्वयं थकते थे और न सुननेवाले ही तृप्त होते थे। इनकी सत्य हरिश्चन्द्र बड़ी सुन्दर कविता है। 'गंगावतरण' में इनकी अपूर्व काव्य प्रतिभा का परिचय मिलता है। इनके 'उद्धव शतक' का तो कहना ही क्या है। 'उद्धव शतक' में प्रत्येक पद्य के साथ कहें रत्नाकर का अच्छा भोग लगाया है।

संत कवियों को (निर्गुण और सगुण दोनों धाराओं के) अपने उपास्य देव से मिलने की चाह, उसके प्रति विरह निवेदन, संसार की असारता और खोखलापन बताते हुए समाज को भगवान् के चरणों में मन लगाने की उपदेश रीति, हृदयानुराग का भगवच्चरणों में भेंट तथा नाना प्रकार से भक्ति भाव प्रदर्शन गेय मुक्तकों का विषय रहा है परन्तु यह समझ लेना चाहिए कि अनेक रूप होते हुए भी सब का पर्यवसान एक भक्ति भाव में है।

मीरा के पद्य, सूर के 'भजन' कबीर के दोहे और साखियाँ, जयदेव के पद हिन्दी गेय मुक्तकों के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। कबीर का रहस्यवाद भी आत्मनिवेदन रूप ही है अतः उसके पृथक् विवेचन की आवश्यकता नहीं।

नोटः—

वर्तमान काल में पाठ्य मुक्तकों की चर्चा तो व्यर्थ है क्योंकि वह बहुत थोड़ें है तथा जो है उसका विषय वह है जो की गेय मुक्तकों का। इतना ध्यान अवश्य रखें कि उनमें गीति कम है। उनका संकलन अभी पुस्तक के रूप में नहीं हुआ और गीति काव्य का इतिहास वर्णन उपर्युक्त तीनों युगों में अर्थात् हरिश्चन्द्रयुग, द्विवेदी युग और प्रसाद-पंत-निराला युग नीचे दिया जाता है।

(१) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के काल में विषय भेद से गीत-काव्य दो प्रकार का हुआ।

(१) वह गीतकाव्य जो प्राचीन पद्धति के अनुसार लिखा गया अर्थात् जिसको विषय आत्मनिवेदन रहा। उदाहरण चन्द्रावली नाटिका में देखिये।

(२) वह काव्य जो राष्ट्रीय कविता कहलाती है और अनेक रूपों में प्रकट होकर हमारा ध्यान देश की ओर अथवा समाज की ओर आकृष्ट करती है।

उदाहरण श्रीधर पाठक के राष्ट्रिय गीत।

दसवाँ प्रवचन

दृश्यकाव्य या नाटक और एकाङ्की नाटक

दृश्य काव्य के २८ भेदों (१० प्रकार के रूपक और १८ प्रकार के उपरूपक) के नाम पुस्तक के प्रारम्भ में दिये जा चुके हैं। इनमें सब से पहिले नाटक के समझने का प्रयत्न होना चाहिये क्योंकि २८ भेदों में यह ही प्रधान है।

नाटक का लक्षण

(हिन्दी में प्रायः सबही संस्कृत नाटकों का अनुवाद हो चुका है अतः संस्कृत नाटक-पद्धति का थोड़ा ज्ञान आवश्यक है। किञ्च यद्यपि हिन्दी में नाटक लिखने की विधि बड़ी सरल है परन्तु मौलिक सिद्धान्त संस्कृत के ही हैं, इस विचार से भी संस्कृत पद्धति का समझना आवश्यक है।

(1) यह काव्य है। इसके अधोलिखित चार अङ्ग होते हैं:—

(१) कथावस्तु जिसे नाटक की कथा, कथानक या प्लौट कहते हैं जिसमें पात्रों के व्यक्तित्व की विशेषता रहती है।

(२) इसकी कथा पात्रों के कथोपकथन और भाव भङ्गी द्वारा रङ्गमंच पर प्रदर्शित की जाती है।

(३) बीच बीच में गीतों का आना आवश्यक है।

(४) सामाजिकों के हृदय में रस का सञ्चार (वीर, करुण अथवा शृङ्गार, किसी एक का प्रधान रूपसे अन्य रसों का गौणरूप से) अथवा सामाजिक समस्याओं का उद्देश्य के रूप में उपस्थित करना।

इन्हीं चार को नाटक के तत्त्व भी कह सकते हैं।

सामाजिक समस्याओं की उपस्थिति कथोपकथन तथा कथानक उपन्यास में भी होते हैं, परन्तु नाटक की कथावस्तु तीन-

चार घण्टों में समाप्त होने वाली होती है। उपन्यास में कथा कितनी ही लम्बी हो सकती है, उपन्यास में गीति का और भावभङ्गी का अभाव होता है। उपन्यास के हर एक पात्र पर लेखक भी प्रकाश डाल सकता है, और लेखक को उपदेष्टा बनने के लिए बहुत अवकाश होता है परन्तु नाटक में पात्रों का चरित्रचित्रण पात्रों के द्वारा ही प्रकट किया जाता है। कवि को रङ्गमञ्च पर आने का अवसर ही नहीं मिलता। नाटक में कथा की पूर्ति भावभङ्गी द्वारा भी हो सकती है, उपन्यास में खोलकर लिखना पड़ता है।

(ii) इसकी कथावस्तु इतिहास प्रसिद्ध, काल्पनिक अथवा उभय विधि हो सकती है।

(iii) कभी कभी इसमें मुख्य कथानक के साथ साथ अवान्तर कथानक भी होता है।

(iv) इसके प्रारम्भ में नान्दी अथवा पूर्व रङ्ग होता है, तदनन्तर प्रस्तावना या स्थापना और उसके बाद मुख्य कथा प्रारम्भ होती है।

(v) इसकी समाप्ति भरत वाक्य द्वारा होती है, और यह अङ्कों में विभाजित रहता है। अङ्कों की संख्या कम से कम पाँच और अधिक से अधिक दस।

(vi) इसमें वीर, करुण अथवा शृङ्गार में हो, कोई एक प्रधान रस होना चाहिये।

(vii) इसका नाम नायक पर, या नायिका पर, अथवा दोनों पर या किसी प्रधान प्रसङ्ग का सूचक होना चाहिये और इसका नायक ब्राह्मण, राजा, मंत्रीपुत्र हो या कोई दिव्य प्रकृति होना चाहिये।

(viii) इसमें पांच सन्धि, तथा अर्थोपक्षेपकों का होना आवश्यक है।

नोटः—

भाषाभेद अथवा अनेक प्रकार की वृत्तियाँ संस्कृत नाटकों में अधिक प्रसिद्ध हैं अत: उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया। हिन्दी के नाटकों में भी चार वृत्तियाँ हैं। इनमें सन्धि, अंक और अर्थोपक्षेपक का कुछ विस्तृत वर्णन आवश्यक है जो नीचे दिया जाता है—(योग्यतार्थ)

सन्धिः—

सन्धि समझने से पूर्व पाँच अवस्थाओं और पाँच अर्थप्रकृतियों का समझना अनिवार्य है।

अवस्था :—

नाटक का समस्त कार्य पाँच भागों में विभक्त रहता है। उन पाँच भागों के क्रमश: नाम ये हैं :—

(१) **आरम्भ**—फलप्राप्ति के लिए नायक का प्रथमपाद प्रक्षेप जिसका महत्त्व उस समय स्वयम् नायक भी नहीं समझता।

(२) **यत्न**—कार्यान्तर के उपस्थित होने से कुछ काल से दबी हुई फलप्राप्ति की इच्छा के फिर जागृत होने से उस इच्छा की पूर्ति के लिए उपाय ढूँढ़ने का यत्न तथा प्राप्त्यनुकूल व्यापार करने का निश्चय।

(३) **प्राप्त्याशा**—फलप्राप्ति में घोर विघ्न पड़ने पर भी, प्राप्ति की आशा की झलक दीखते रहना।

(४) **नियताप्ति**—निश्चय रूप से फलप्राप्ति की परिस्थिति का उपस्थित होना।

(५) **फलागम**—फल का प्राप्त हो जाना।

अर्थप्रकृति—अर्थप्रकृति का तात्पर्य कथा में आये हुए उन वाक्यों से है जो कथा को कार्य की ओर ले जाते हैं। ये भी पाँच हैं।

(१) **बीज**—वह वाक्य जिसमें फलरूप वृक्ष छिपा है।

(२) **बिन्दु**—कार्यान्तर में नायक के व्यापृत होने के अनन्तर सहसा ऐसा वाक्य उसके मुख से निकलना जिससे फल-प्राप्ति की ओर यत्न के लिए उत्सुकता प्रकट हो।

(३) **पताका और (४) प्रकरी**—ऐसी कथाएँ अथवा वार्तालाप जो मुख्य कथा के फलप्राप्ति की ओर कथा को ले चलें।

(५) **कार्यलक्षण**—वह वचन जो फलप्राप्ति संयोजक कार्य का प्रवर्तक है।

नोट :—

उपर्युक्त पाँच अर्थप्रकृति और पाँच अवस्थाओं के मेल से कथावस्तु के पाँच अंग जो क्रम से एक दूसरे के अनन्तर आकर कथा का पूर्ण शरीर निर्माण करती हैं उन्हें सन्धि अथवा पञ्च सन्धि कहते हैं। उनके नाम नीचे दिये जाते हैं :—

मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, निर्वहण या उपसंहार।

प्रत्येक सन्धि नाटक के एक या डेढ़ अंक तक चलती है और प्रत्येक के दस, बारह या तेरह तक अंग होते हैं जिनके पृथक्-पृथक् नाम हैं जिनकी कुल संख्या ६४ है और जो वर्णन, घटना अथवा वार्तालापों के रूप में आकर नाटक की शोभा बढ़ाते हुए, उसका अंक निर्माण करते हैं।

अर्थोपक्षेपक :—

नाटकीय कथावस्तु के कुछ भाग ऐसे होते हैं जिन्हें बिना किसी बाधा या संकोच के रंगमञ्च पर दिखा सकते हैं, उन भागों को दृश्य कहते हैं। परन्तु कुछ भाग ऐसे होते हैं जिनकी

पात्रों द्वारा सूचना दिला दी जाती है जैसे किसी की मृत्यु अथवा कुछ भाग ऐसे गौण रस हीन होते हैं कि उनको अंकों में रखना तो कठिन है परन्तु उनका अभिनय भी आवश्यक है, तो उनके बताने के लिए तथा उपर्युक्त सूच्य के बताने के जो साधन हैं उन्हें अर्थोपक्षेपक कहते हैं। वे पाँच होते हैं:—

विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अङ्कास्य, अंकावतार।

विष्कम्भक—

यह नाटक के प्रारम्भ में भी आ सकता है। इसके पात्र मध्यम श्रेणी या मध्यम और नीच श्रेणी के मिश्रित होते हैं। यह नाटक की कथा समझाने में सहायक होता है। संस्कृत नाटकों में अधिक प्रसिद्ध हैं। दो तीन पृष्ठ से अधिक पृष्ठ इसमें नहीं होते।

प्रवेशक—

यह एक तीन चार पृष्ठ का छोटा अंक, दो अंकों के बीच में होता है। इसके पात्र सब नीच श्रेणी के होते हैं। यह सर्वदा अङ्कों के बीच में कथा की शृङ्खलाएँ जोड़ने के लिए लिखा जाता है।

चूलिका—

जो बात परदे के पीछे से कहनी हो, उसे नाटकों में चूलिका लिखकर प्रकट करते हैं।

अङ्कास्य—

अङ्क के अन्त में निकलने वाले पात्रों द्वारा आगे आने वाले अङ्क की कथा को सूचित करने की विधि को अङ्कास्य कहते हैं। अङ्कास्य प्रत्येक अङ्क की समाप्ति पर नहीं होता।

अङ्कावतार—

जहाँ पहिले आए हुए अङ्क के पात्र अगले अङ्क में भी चलते रहें, ऐसी रचना को अङ्कावतार कहते हैं अर्थात् अङ्क के लक्षण के

अनुसार पात्रों को अङ्क की समाप्ति पर बाहिर अवश्य जाना होता है, परन्तु यदि अगले अङ्क के प्रारम्भ में फिर सब वे ही आ जाएं तो ऐसी परिस्थिति का अङ्कावतार कहते हैं।

रस—

नोट:—लोक में जिन्हें किसी परिस्थिति के कारण, आश्रय निष्ठ कार्य तथा सहकारि कार्य कहते हैं, साहित्य में उनके वर्णन को विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारीभाव कहते हैं।

लोक में जिस प्रकार दही के लिये दूध का होना आवश्यक है इसी प्रकार साहित्य में रस प्राप्ति के लिये दर्शक अथवा पाठक के हृदय में संस्कार रूप से स्थायिभाव का रहना आवश्यक है।

(जितने रस उतने ही स्थायी भाव। स्थायिभाव = पूर्वजन्मोपात्त चित्त के संस्कार। उनके नाम:—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय, शम संस्कार विशेष)

वर्णित विभावानुभावादि को अनुकूल सामग्री बनाने के लिए अभिधा लक्षणा व्यञ्जना के अतिरिक्त व्यापार द्वय की कल्पना साहित्य में अवश्य करनी होगी।

इतना हृदयगम करके रस की परिभाषा की ओर ध्यान दें जिसका दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है।

विभाव देखकर अथवा पढ़कर जागृत हुआ, अनुभाव देखकर या पढ़कर पुष्ट हुआ अर्थात् आस्वाद्य हुआ २ और सञ्चारिभाव वर्णन से और भी अधिक आस्वाद के योग्य हुआ २, सामाजिक हृदयनिष्ठ पूर्ण विकसित स्थायिभाव रस नाम से निर्वाचित होता है। रस्यते इस व्युत्पत्ति से भाव और रसाभासादि का भी अन्तर्भाव 'रस' में समझे रहें। रस नौ हैं। तथाहि:—शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त। इसके

लक्षण, भेद, उपभेद तथा ऐसे ही नौ स्थायि भाव होते हैं। रस चित्त की अवस्था विशेष है।

अभिनय (नाटक का प्रधान तत्व)

जिनके द्वारा नाटकीय कथा वस्तु का स्पष्टीकरण कर कर उसे पूर्ण रूप से आस्वाद योग्य बनाया जाए उन्हें अभिनय कहते हैं और अभिनय चार प्रकार का होता है।

(१) आङ्गिक—(मुखाकृति, अथवा दृष्टि से भावाभिव्यक्ति)
(२) वाचिक—(रस के अनुकूल छन्द तथा वाक्य व्यवहार)
(३) आहार्य—(रङ्गमञ्च की अनुकूल वेश भूषा)
(४) सात्विक—(सात्विक भावों से भावाभिव्यक्ति)

अब इसके अन्य भेदों का संक्षेप में लक्षण देकर हिन्दी नाट्य साहित्य का इतिहास देंगे।

(१) एक दो को छोड़कर संस्कृत के सब नाटक और उन्हीं के अनुकरण पर लिखे हुए हिन्दी के नाटक सुख शान्ति पूर्ण हैं। इनमें उद्वेग, भय अथवा दुःख का वायुमण्डल रचने का प्रयत्न बहुत कम दीख पड़ता है। हमारे संस्कृत और हिन्दी के नाटकों में ग्राह्य नाटकों में प्रसिद्ध संकलन त्रय भी नहीं मिलता। कार्य की एकता के बिना तो नाटक का शरीर निर्माण ही नहीं हो सकता।

हिन्दी नाटकों को अभी सुयोग्य रंग मञ्च नहीं मिला यह दुःख का विषय है।

(२) **प्रकरण**—यह नाटक के समान होता है। इसकी कथा वस्तु कल्पित होती है। इसका नायक कोई ब्राह्मण, मन्त्रि-पुत्र या कोई आढ्य वैश्य। संस्कृत में संस्कृत के साथ प्राकृत का बहुत प्रयोग रहता है।

(३) **भाण**—यह एकाङ्की होता है और इसमें पात्र भी एक ही होता है जो आकाश भाषित से काम लेकर पात्रों का अभाव पूरा करता है।

उदाहरण भारतेन्दु का "विषस्य विषमौषधम्"।

(४) **प्रहसन**—यह भी एकाङ्की होता है और हास्य रस रहता है।

उदाहरण—"वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" और "अन्धेर नगरी"।

(५) **डिम**—इसमें चार अङ्क होते हैं। नायक कोई अवतार अथवा दैत्य होता है। जादू का विषय प्रधान रूप से वर्णित होता है। हिन्दी में कोई डिम नहीं। संस्कृत में "त्रिपुरदाह"

(६) **व्यायोग**—यह भी एकाङ्की होता है। स्त्री पात्र एक हो। वीर रस प्रधान रूप से इसका विषय होता है। धनञ्जय विजय (भारतेन्दु) संस्कृत से अनुवाद किये हुए बहुत हैं।

(७) **समवकार**—इसमें बारह तक नायक होते हैं, तीन अङ्क होते हैं। युद्ध वर्णन इसमें अवश्य रहता है।

भास का लिखा। पञ्चरात्र हिन्दी में अभाव

(८) **वीथी**—एक अङ्क होता है। शृङ्गार रस प्रधान और कथा कल्पित। उदाहरण "लीला मधुकर"।

(९) **अङ्क**—एकाङ्की और करुण रस प्रधान होता है। इसका नायक कोई उदात्तपुरुष। उदाहरण "शर्मिष्ठा ययाति"

(१०) **ईहामृग**—धीरोदात्त नायक और एक प्रतिनायक होते हैं। स्त्री के कारण नायक और प्रतिनायक में युद्ध होता है। फल-प्राप्ति नहीं होती। इसमें चार तक अङ्क होते हैं। ये सब बोध के लिये हैं।

हिन्दी के नाटक

यह पहले ही निर्दिष्ट हो चुका है कि हिन्दी में नाटक केवल वर्तमान काल में ही लिखे गये। यद्यपि संस्कृत में नाटक तथा सुविस्तृत नाटक पद्धति थी परन्तु अनेक कारणवश वर्तमान युग से पूर्व हिन्दी में नाटक अनुवाद किये हुए भी नहीं मिलते। हिन्दी में यद्यपि नाटिका (उपरूपक) मिलती हैं। फिर भी उपरूपक का प्रचार नहीं हुआ।

सुगमता के लिये हिन्दी नाटकों का इतिहास हम अधोलिखित युगों के अनुसार देंगे।

(१) पूर्वहरिश्चन्द्र युग (२) हरिश्चन्द्र युग (३) हरिश्चन्द्र और प्रसाद के मध्य का युग (४) प्रसाद युग (५) प्रसादोत्तर युग अथवा आधुनिक युग।

पूर्व हरिश्चन्द्र युग

इस युग में नाटकों के विषय में इतना ही याद रखना पर्याप्त है कि अभी तक हिन्दी में नाटक लिखा जाना प्रारम्भ नहीं हुआ था। इस युग में चार पाँच नाटकों के नाम मिलते हैं परन्तु वे वस्तुतः नाटक न होकर आध्यात्मिक कविताएँ हैं। उन्हें नाटक इसलिए कह दिया कि उक्ति प्रत्युक्ति के रूप के लिखे हुए हैं अन्यथा वे पद्यात्मक हैं और पात्र भी मनः कल्पित जैसे श्रद्धा। हाँ भारतेन्दु के पिता बाबू गोपाल चन्द (गिरधरदास जी) का लिखा 'नहुष' नाटक इस काल का एक नाटक है जिसमें पात्रों के प्रवेश के नियम का पालन हुआ। परन्तु इसमें पद्य अधिक हैं। दूसरा इस समय का नाटक 'शकुन्तला नाटक', राजा लक्ष्मण जी का संस्कृत शकुन्तला का अनुवाद है। राजा लक्ष्मण सिंह बड़े विद्वान् थे। इस नाटक में पद्य ब्रज में हैं और गद्य खड़ी बोली में। परन्तु हमें यह कहना पड़ता है कि यह अनुवाद तो अच्छा है परन्तु जहाँ

राजाजी ने अपनी ओर से लिखा वहाँ ही पुस्तक में असौन्दर्य आ गया।

हरिश्चन्द्र युग

भारतेन्दु जी ने गद्य के लिये खड़ी बोली का रूप निश्चित किया और वास्तविक रूप में हिन्दी में नाटक लिखने की परम्परा इनके युग से प्रारम्भ हुई। इन्होंने स्वयम् मौलिक नाटक लिखे (भारत दुर्दशा), सत्य हरिश्चन्द्र, हिंसा प्रेम योगिनी तथा वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति आदि कई तथा बंगला और संस्कृत के नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया। ला० श्री निवास (देहली) ने तप्तासंवरण लिखा। बाबू तोताराम (अलीगढ़) ने एक अँगरेजी नाटक का अनुवाद किया।

इनके मित्रमंडल में श्री बद्रीनारायण जी ने 'भारत सौभाग्य नाटक' प्रतापनारायण जी ने 'त्रिया तेल, हमीर हठ चढ़े न दूजी बार', श्री राधा कृष्ण ने 'महाराणा प्रताप' आदि नाटक लिखे।

उपर्युक्त नाटक नाटक कहलाने के योग्य हैं। इनके विषय भी सामाजिक तथा राजनैतिक हैं और इनमें विनोद की मात्रा भी पर्याप्त है। भाषा खड़ी बोली है और नाटक पद्धति के अनुसार लिखे हुए हैं।

मध्य युग

इस युग में मुख्य रूप से संस्कृत, बंगला तथा अँग्रेजी के नाटकों का हिन्दी में अनुवाद हुआ। शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद करने का श्रेय बा० गंगाप्रसाद एम० ए० को होता है। संस्कृत के नाटकों का यथा भवभूति के "उत्तररामचरित" का अनुवाद राय-बहादुर लाला सीताराम ने किया, तथा द्विजेन्द्रलाल राय (बंगाली नाटककार) के नाटकों का अनुवाद पं० रूपनारायण जी ने किया।

इस युग में मौलिक नाटक भी खूब लिखे गये। यथा—गुप्त जी का 'चन्द्राहास' पण्डित जगन्नाथ प्रसाद का 'मधुर मिलन' माखनलाल जी का 'श्रीकृष्णार्जुन युद्ध', बद्रीनारायण जी का 'चन्द्रगुप्त' तथा 'दुर्गावती' और पूरन जी का 'चन्द्रकला' आदि।

इस युग में धार्मिक परन्तु सामाजिक नाटक भी लिखे गये तथा ऐसे नाटक लिखे गये जो रंगमञ्च के उपयुक्त हैं, जैसे नारायणप्रसाद बेताव का 'महाभारत' पं० राधेश्याम जी कथा-वाचक के 'वीर अभिमन्यु' तथा 'परमभक्त प्रह्लाद' और हरेकृष्ण जौहर का 'पतिभक्ति'।

इन नाटकों में गद्य की ओर अधिक प्रवृत्ति देखने में आती है। अतिमानवी शक्तियों का वर्णन भी इनमें कम है और सामाजिक, राजनैतिक और ऐतिहासिक विषयों की ओर लेखकों का अधिक झुकाव दृष्टिगोचर होता है।

(४) प्रसाद युग

प्रसाद युग से हमारा तात्पर्य केवल श्री जयशंकरप्रसाद जी के लिखे हुए नाटकों से है। प्रसाद जी अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखते हैं। इनके नाटक चाहे रंगमञ्च के उपयुक्त न हों (क्योंकि इनका विचार था कि नाटक रंगमञ्च के अनुकूल हो यह नहीं अपितु रंगमञ्च नाटकों के अनुकूल होना चाहिए), परन्तु इनको पढ़कर भारतवासी गौरव से अपना सिर ऊँचा कर सकते हैं। इनके नाटकों की प्रशंसा हम श्री गुलाबराय जी का अधोलिखित वाक्य उद्धृत करते हैं क्योंकि यह वाक्य पूर्ण सत्यता लिए हुए है तथा श्री गुलाबराय जी ने यह एक वाक्य लिखकर गागर में सागर बन्द किया है।

"प्रसाद जी ने अतीत प्रवृत्ति में भावना का मधु और दार्शनिकता का रसायन घोलकर समाज को एक ऐसा नया पौष्टिक

अवलेह दिया जो ह्रास की मनोवृत्ति को दूर कर उसमें एक नई सांस्कृतिक चेतना का संचार कर सके।"

इसमें सन्देह नहीं कि प्रसाद जी के नाटकों में द्विजेन्द्र लाल राय की ऐतिहासिकता और रवीन्द्र बाबू की दार्शनिकता का एक साथ अनुभव होता है। इन्होंने मध्यकालीन सभ्यता के बड़े सुन्दर चित्र अपने नाटकों में दिये हैं।

प्रसाद के पात्र भी अपना महत्त्व रखते हैं। प्रत्येक नाटक के पात्रों में एक पात्र ऐसा होता है जिसके न रहने से भी नाटकीय कथा वस्तु का निर्वाह हो सकता है, परन्तु वह पात्र अपने ढंग से आदर्श होता है।

इन नाटकों में बाह्य संघर्ष तथा आन्तरिक संघर्ष दोनों का बड़ा सुन्दर मेल मिलता है। उदाहरण के लिये इनका कोई नाटक देख लेवें। राष्ट्रीय दृष्टिकोण इनके नाटकों की विशेषता है।

प्रसादोत्तर काल या आज का काल

इस काल की विशेषताएँ अधोलिखित कही जा सकती हैं:—

(१) ये विस्तार में छोटे हैं। सिनेमा के समान प्रत्येक नाटक २½ या अधिक से अधिक तीन घण्टे में समाप्त हो सकता है।

(२) प्राय: सब ही नाटक वर्तमान कालिक समस्याओं को लेकर चले हैं। अतीत कालिक नाटकों में कालव्यवधान के कारण कुछ अधिक रोचकता आ जाती है तो भी ये नाटक अपने ढंग से सुन्दर हैं।

(३) इन नाटकों में नायक साधारण कोटि के मनुष्य भी हैं।

(४) पुराणों के आधार पर लिखे हुए नाटकों में बुद्धितत्व पर अधिक बल दिया है।

इस युग के प्रसिद्ध लेखक

गोविन्दवल्लभ पन्त, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क और मिलिन्द तथा पं० लक्ष्मीनारायण आदि। अधिक अध्ययन के लिये यह स्मरण रखना आवश्यक है कि उपर्युक्त प्रत्येक नाटककार अपनी विशेषता रखता है।

सेठ गोविन्ददास ने तो वर्तमान समस्याओं को लेकर नाटक लिखे ही हैं, किन्तु ऐतिहासिक नाटक लिखने में भी आप सिद्धहस्त हैं। इनके 'कर्तव्य', 'स्पर्द्धा' (वर्तमान समस्यात्मक) तथा 'प्रकाश' आदि प्रसिद्ध नाटक हैं।

पं० गोविन्दवल्लभ के नाटक बड़े सरल तथा पठनीय हैं। इनमें अभिनय को भी पर्याप्त स्थान मिला है।

हरि कृष्ण प्रेमी का 'रक्षाबंधन' तथा मिलिन्द जी का 'प्रताप प्रतिज्ञा' बड़े सुन्दर नाटक हैं। चाहे साहित्य की दृष्टि से इनका उन्नत स्थान न हो परंतु सामाजिक माँग की दृष्टि से ये नाटक जनता की प्रवृत्ति के बहुत ही अनुकूल हैं। पं० उदयशंकर भट्ट का नाटक 'कमला' भी इसी प्रकार का है।

अन्त में यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि आज कल पौराणिक, राजनैतिक तथा सामाजिक नाटक लिखने की प्रवृत्ति नाटकों में अधिक रूप से लक्षित होती है।

एकाङ्की नाटक

आज कल समयाभाव होने के कारण एकाङ्की नाटकों का प्रचार अधिक हो रहा है। एकाङ्की नाटक नाटक का ही संक्षिप्त रूप होता है और स्थानाभाव के कारण यद्यपि इनमें अधिक चरित्र चित्रण नहीं होता परन्तु ये जीवन समस्या पर पूर्ण रूप से प्रकाश डालते हैं।

प्रसिद्ध एकाङ्की लेखक

डा० रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, सुदर्शन, उपेन्द्रनाथ अश्क, भगवतीचरण वर्मा, तथा गणेशप्रसाद द्विवेदी आदि हैं।

इनके एकाङ्की सर्वत्र उपलब्ध है छात्रों को चाहिये कि उन्हें पढ़ें।

इन नाटकों का आरम्भ उन छोटे दृश्यों से है जो बड़े नाटकों के प्रारम्भ में सामाजिकों के मनोविनोदार्थ दिखाये जाते थे। यह पहिले ही बताया जा चुका है कि एकाङ्की नाटक भी पश्चिमी प्रभाव के कारण ही हैं। प्रभाव का तात्पर्य नकल से कदापि नहीं।

शैली उनकी है सामग्री सब अपनी है।

ग्यारहवाँ प्रवचन

उपन्यास और कहानी

साहित्य के जिस भाग के लिये अब उपन्यास शब्द का प्रयोग होता है, वह उपन्यास शब्द वर्तमान समय की देन है। संस्कृत साहित्य में उपन्यास के लिये तो कथा या आख्यायिका शब्द का प्रयोग आता ही है अपितु छोटी कहानियों को भी कथा ही कहते हैं।

यद्यपि कथा और आख्यायिका की परिभाषा के विषय में मतभेद है, परन्तु महाकवि दण्डी ने अपने लिखे हुए ग्रन्थ काव्यादर्श में सिद्धान्त किया कि कथा और आख्यायिका पर्य्यायवाचक शब्द हैं। हम भी इसी मत को स्वीकार करते हैं।

वर्तमान काल के उपन्यास और कहानियों में वह ही सम्बन्ध है जो नाटकों और एकांकी नाटकों में। यह भी मानना पड़ेगा

कि जिस प्रकार एकाङ्की नाटकों के विकास में कुछ सीमा तक हिन्दी साहित्य पश्चिम का ऋणी है, उसी तरह छोटी कहानियों के विकास के लिये भी।

संस्कृत की छोटी कहानियाँ अपनी विशेषता रखती हैं और कहानी लिखने की प्रथा संस्कृत साहित्य में प्राचीन काल अर्थात् औपनिषदिक काल से पाई जाती है। यह प्रवृत्ति बौद्ध साहित्य और जैन साहित्य में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है। महाकवि गुणाढ्य का पैशाची भाषा में लिखा हुआ ग्रन्थ 'वृहत् कथा' जो इस समय उपलब्ध नहीं, कहानियों का भण्डार बताया जाता है। संस्कृत साहित्य की प्रचलित अनेक कथाओं का आधार वह ही 'वृहत् कथा' है जो वर्तमान प्राकृत काल का अमूल्य रत्न था।

संस्कृत की छोटी कहानियाँ यद्यपि सब ही कुतूहल प्रधान हैं, तथापि उनको दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

(१) वे गल्प जो अप्सराओं की, तोते मैनाओं की तथा भूत वैतालों की कहानियाँ हैं। ये प्राचीन समय के अनुकूल थी जब जनता भूत प्रेत आदि में तथा अघटित घटनाओं में विश्वास रखती थी। जैसे 'शुक सप्तति' 'वेताल पञ्च विंशति' तथा 'सिंहासन द्वात्रिंशका'। (इन सब का अब हिन्दी में अनुवाद हो चुका है)

(२) वे कथाएँ जिन के द्वारा सुकुमारमति भावुक राजपुत्रों को नीति शास्त्र का उपदेश दिया जाता था जैसे पञ्च तन्त्र या हितोपदेश की कहानियाँ।

संस्कृत साहित्य में ऊपर बताये हुए कथा भण्डार को देख कर हमें यह मानने के लिये बाधित होना पड़ता है कि ये सब

उस समय की माँग का परिणाम है, जब सामाजिक जीवन बड़ा सरल था। समस्त देश में संस्कृत भाषा का जो यद्यपि लोकभाषा न थी खूब प्रचार था, साधारण पठित समाज ऐसा साहित्य माँग रहा था जो दिल को प्रसन्न करे तथा शास्त्रानुकूल भी हो, और ब्राह्मण भी बौद्ध और जैनियों को दबाने की भावना से अभिभूत होकर इस ढंग के ग्रन्थ लिख रहे थे जिन में रूपकों द्वारा शास्त्रीय चर्चा हो। यह वह ही समय था जिसे हम प्राचीन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान काल कह सकते हैं जिससे प्रभावित होकर बौद्धों और जैनियों ने भी अपनी धर्म सम्बन्धी पुस्तकों को संस्कृत में लिखना प्रारम्भ कर दिया।

संस्कृत के उपन्यास

संस्कृत में तीन प्रसिद्ध उपन्यास मिलते हैं :—

(१) दशकुमार चरितम् जिसको महाकवि दण्डी ने लिखा।

(२) वासवदत्ता जो कविवर सुबन्धु की कृति है।

(३) कादम्बरी जिसके लेखक पण्डित प्रवर बाण भट्ट थे।

हर्ष चरित को विद्वान् कथा या आख्यायिका न मान कर ऐतिहासिक काव्य मानते हैं।

उपर्युक्त संस्कृत के उपन्यासों की यदि विशेषताएँ पूछें तो उनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार होगा।

इनमें प्रत्येक कुतूहल प्रधान तो है ही, परन्तु इनकी सबसे अधिक विशेषता यह है कि इनमें भाषा राजमहिषी के समान बड़े ठाठ से चलती है। कभी कभी एक वाक्य दश पृष्ठों में समाप्त होता है जहाँ केवल कथा-वस्तु तो इतनी ही होती है कि अमुक नाम का राजा था शेष सब राजा के विशेषण या विशेषणों के

विशेषण होते हैं। इनमें दीर्घ समास, गद्य होते हुए भी अनेक प्रकार के अलंकार, स्त्रियों का सौंदर्य वर्णन महाकाव्य के समान आश्रम, ऋतु, नदी, वनादि की चर्चा तथा राजकुमारों की वीरता, धीरता, गम्भीरतादि का वर्णन खूब मिलता है। इनको पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा-लेखनचातुर्यप्रदर्शन कवि को विशेषरूप से वाञ्छनीय है। श्लेष इन उपन्यासों का प्राण है। शृंगार रस इनकी आत्मा है।

कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृत साहित्य में जो उपन्यास हैं, सुन्दर हैं, परन्तु अपने ढङ्ग के हैं, प्राचीन समय के माँग के अनुकूल हैं। अपनी विशेषता रखत हैं परन्तु हिन्दी उपन्यास उनसे रूप में तथा विषय में भिन्न ही हैं। भाषा का अविच्छिन्न धारा प्रवाह हिन्दी में नहीं आ सकता। विविध विषय सम्पत्ति जो हिन्दी उपन्यासों में है संस्कृत आख्यायिकाओं में नहीं मिलती।

उपन्यास

उपन्यास शब्द, उप+नि+आस् धातु से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ है, वह साहित्य जो बड़े रोचक ढङ्ग से जीवन की विविध समस्याएँ पाठकों के समक्ष रखकर उनके समझने की, सुलझाने की तथा उन पर काबू पाने की योग्यता पैदा करता है। उपन्यास का सामाजिक जीवन की समस्याओं से सम्बद्ध होना आवश्यक है। वह अतीत को सी चर्चा करता हुआ, वर्तमान समाज में सुधार लाते हुए आदर्श समाज का सुझाव करता है। इसका शरीर सर्वथा काल्पनिक होता है, परन्तु इसकी आत्मा समाज की हार्दिक पुकार होने के कारण सत्यपूर्ण होती है। यहाँ यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उपन्यास और नाटक का भेद भी बता दिया जावे।

उपन्यास

(१) उपन्यासकार, उपन्यास लिखने में बहुत स्वतन्त्र होता है। वह जो चाहे और जितना चाहे लिख सकता है, वह स्वयं पात्रों का चरित्रचित्रण कर सकता है। वह पात्रों के द्वारा भी उनके चरित्र का उद्घाटन करा सकता है। वह पाठकों के समक्ष उपदेष्टा के रूप में भी आ सकता है।

(२) उपन्यासकार अपनी कथा में सब प्रकार के दृश्यों का समावेश कर सकता है।

परन्तु उपन्यास लिखने के लिए विशिष्ट बुद्धि की आवश्यकता है। उसे जो दिखाना है वह शब्द चित्र ही बनाकर दिखा सकता है। विचारों या वर्णनों में अस्पष्टता आने से उपन्यास के गौरव पर धक्का पहुँचता है।

(३) उपन्यास हर स्थान पर हर समय आनन्द देता है क्योंकि वह कथा का शाब्दिक चित्र होता है।

नाटक

(१) नाटककार पर समय का प्रबल प्रतिबन्ध होता है। उसे अपनी कथा दो तीन घंटे में अवश्य समाप्त कर देनी चाहिए जिससे दर्शकों की रुचि बनी रहे। इसी कारण से नाटककार को बहुत बातें दर्शकों पर छोड़नी पड़ती है। उस पर रङ्गमञ्च का भी नियन्त्रण रहता है। वह केवल पात्रों के द्वारा ही बोल सकता है वह भी समयानुकूल।

(२) नाटककार रङ्गमञ्च पर समयानुकूल साधन जुटाकर अपने वर्णन को मूर्त्त और स्पष्ट रूप देकर थोड़े ज्ञान से भी ख्याति प्राप्त कर लेता है। भाव-भङ्गी द्वारा भी नाटककार कथा को सुन्दर बना सकता है तथा गान और नृत्य इन दो तत्त्वों के कारण नाटक विशेष रूप से चित्ताकर्षक होता है।

(३) नाटक हर स्थान पर और हर समय नहीं देखा जा सकता। पढ़ने में देखने की अपेक्षा आनन्द मात्रा की बहुत न्यूनता होती है।

उपन्यास के तत्त्व

(१) कथा वस्तु (२) कथोपकथन (३) चरित्रचित्रण (४) शैली (५) उद्देश्य (६) अन्य आवश्यक गुण।

उपन्यास कार को अपने उपन्यास के लिये सुन्दर कथानक चुनना चाहिये। जिससे पाठकों को आनन्द मिले और उनकी बुद्धि को भी सांत्वना प्राप्त हो। कथानक में मौलिकता, सम्भवता, सुसम्बद्धता तथा रोचकता आदि गुण अवश्य रहने चाहिये। मौलिकता का यह तात्पर्य नहीं कि लेखक कोइ नया विषय अथवा कोइ न सुनी हुइ कहानी पाठकों के सामने रक्खे। उपन्यासों के लिए मानव जीवन अथवा सामाजिक जीवन एक ही विषय पर्याप्त है परन्तु वर्णन प्रकार इतना भिन्न, अनूठा तथा निजी होना चाहिये कि कथानक में मौलिकता स्वयम् आजाए। लेखक को चाहिये कि वह ऐसा न लिखे जो प्रतीति विरुद्ध हो या जिसका होना असम्भव हो। सत्य प्रतिपादन परन्तु रोचक ढंग से हो। नंगे रूप में सत्य भी उद्वेजक हो जाता है, रोचक नहीं रहता।

कथा वस्तु में सम्बन्ध निर्वाह अवश्य रहना चाहिये और कथानक का विकास क्रमिक तथा कार्यकारण निर्वाह पुरस्सर रहना चाहिये। घटना क्रम ऐसा सुव्यवस्थित हो कि समस्त प्रयत्न एक गुलदस्ते के समान सुन्दर प्रतीत हो।

(२) कथोपकथन

कथोपकथन पात्रों की योग्यता तथा समाज में उनके स्वानुरूप होना चाहिए। उनकी भाषा तथा उनके विचार उनके रूप के अनुकूल न होने से उपन्यास में असम्भव दोष आजायेगा, स्वाभाविकता तथा सजीवता दोनों गुण निकल जायेंगे। कथोपकथन ऐसा हो जो कथावस्तु को आगे भी ले चले और पात्र के चरित्र पर प्रकाश डालें।

(३) चरित्र चित्रण

चरित्र चित्रण दो प्रकार से होता है :—जो पात्र जिस कोटि का तथा वर्ण का है उसके अनुकूल और प्रतिनिधिरूप से उसका चित्रण। (२) पात्र को उसकी श्रेणी से पृथक कर कर उसकी वैयक्तिक विशेषता का वर्णन। लेखक को चाहिये कि इन दोनों मार्गों में से जो मार्ग प्रकरण में अधिक उपयुक्त हो उसका अवलम्बन करें। चरित्र चित्रण भी वर्णन रीति के अनुसार दो प्रकार का है :—

(१) लेखक पात्र का स्वयम् वर्णन करे।

(२) पात्र के मुख से अथवा उसके कृत्यों से उसका वर्णन करावे। इसी दूसरी विधि को नाटकीय विधि भी कहते हैं।

(४) शैली

उपन्यास साहित्य के नाते से ऐसे ढंग तथा ऐसी भाषा में लिखे हुए होने चाहिएँ जिससे वे काव्य कोटि में आ जाएँ। इनकी भाषा ऐसी साधारण न हो जो ग्राम्य प्रतीत हो, भाव इतने नीचे न हों कि प्राकृत अथवा गँवार मालूम हों। इतने गूढ़ भी न हों कि उनका समझना ही कठिन हो, पद रचना इतनी मधुर हो कि उसे पढ़ते ही बने। संक्षेप में बात इतनी है कि भाव,विचार, भाषा तथा पदरचना का इतना सुन्दर समन्वय रहना चाहिये कि समस्त संविधानक एक प्रशंसनीय वस्तु बन जाये।

(५) उद्देश्य

उपन्यास कहानी मात्र नहीं होता। उपन्यास में लेखक का समाज के प्रति या जीवन के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण होना चाहिये और उसके अनुकूल उपन्यास में मानव जीवन अथवा समाज जीवन की व्याख्या स्पष्टरूप से रहनी चाहिये। कभी कभी

यह जानना कठिन होता है कि लेखक का क्या उद्देश्य है। उद्देश्य प्रतिपादन भी दो प्रकार से किया जाता है :—

(१) लेखक स्वयं अपने दृष्टिकोण से जीवन का बखान करता है।

(२) नाटकीयविधि अर्थात् पात्रों द्वारा अपना दृष्टिकोण और तदनुसार विषय विवेचन कराता है।

उपन्यासकार को चाहिए कि कालिक समस्याओं को दृष्टि में रखते हुए शाश्वत सिद्धान्तों के साथ उनका ऐसा सुन्दर मेल मिलावे जिससे वर्तमान समाज में बवंडर न पैदा करता हुआ उसमें सुधार की आयोजना उत्पन्न कर दे।

(६) उपन्यास के आवश्यक गुण

उपर्युक्त सब कहकर संक्षेप में इतना कहना आवश्यक समझते हैं कि उपन्यास सुन्दर लिखित तथा ऐसी भाषा में लिखा हुआ हो जो आसानी से समझा जा सके। इसके विचार अति गूढ़ न होकर, इतने नगे भी न हो जिनकी कुछ नहीं कहकर उपेक्षा कर दी जाये। इसमें लाक्षणिक और व्यञ्जक शब्दों का यथा स्थान पर्याप्त प्रयोग रहना चाहिये। इसका कथानक सुन्दर तथा रोचक घटना विशिष्ट होना चाहिये। कथानक कल्पित होते हुए भी सत्यता की झलक लिये हुए हो। अतीत का याथातथ्यपूर्ण वर्णन न होते हुए भी वैसा मालूम अवश्य हो। संक्षेप में याद रखने की बात यह है कि उपन्यास काव्याङ्ग है अतः इसमें काव्यत्व का पूर्ण रूप से निर्वाह रहते हुए किसी जीवन समस्या पर दृष्टि क्षेप कराते हुए उसके सुलझाने का साहित्यक प्रयत्न रहना चाहिये।

हिन्दी उपन्यास

ऊपर कहानियों को कथा से पृथक् किया है। कहानियों का विशेष रूप से वर्णन अगले प्रवचन में किया जायेगा। उपन्यासों का ऐतिहासिक विकास संक्षेप में इस प्रकार है:—

(१) भारतेन्दु युग अथवा मुंशी प्रेमचंद से पूर्व का युग

इस युग को दो कालों में विभाजित किया जा सकता है:—

(i) प्रारम्भिक युग जिसके प्रतिनिधि उपन्यास लेखक ला० श्रीनिवासदास (१९०२–१९४४), पं० बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्णदास (१९२२–६४), आदि हैं। ला० श्री निवासदास का 'परीक्षा गुरु', श्री बालकृष्ण भट्ट का 'सौ अजान और एक सुजान' तथा राधाकृष्ण जी का 'निस्सहाय हिन्दू' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पहिले दो में व्यक्ति की प्रधानता है अर्थात् कथानक व्यक्तिगत पतन और उत्थान का प्रतिपादक है, 'निस्सहाय हिन्दू' गोरक्षा आन्दोलन का चित्र उपस्थित करता है अतएव वर्तमान उपन्यासों के अधिक निकट है।

इस युग में बँगला के उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद हुआ और उसका श्रेय भा तेन्दु आदि महानुभावों को है। इन उपन्यासों में दहेज आदि कुप्रथा का चित्र देखने में आता है। बँगला उपन्यासों में राष्ट्रीय भावना भी बहुत पहिले जागृत हो चुकी थी।

इस युग के उपन्यासों की विशेषता इतनी ही है कि वे कुतूहल प्रधान हैं, शिक्षा के उद्देश्य से लिखे हुये हैं, पाठकों का चित्त वृत्ति-रञ्जन इनका विशेष ध्येय है।

प्रारम्भिक युग के उपन्यासकारों में बाबू देवकीनन्दन खत्री का नाम भी स्मरणीय है। यद्यपि इनके उपन्यास तिलस्म और ऐयारी से पूर्ण है, उनमें एक नई प्रकार की कल्पना का प्रबल प्राधान्य है, एक नया ही संसार पाठकों के समक्ष उपस्थित करते हैं तथा यद्यपि साहित्यिक दृष्टि से बहुत ऊँचे नहीं बैठते, परन्तु इन उपन्यासों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। मन को प्रसन्न करने के अतिरिक्त, इन उपन्यासों ने इतना देवनागरी लिपि का प्रचार किया कि उसका अनुमान करना कठिन है। इन्हीं उपन्यासों के साथ जासूसी उपन्यास भी नहीं भूले जा सकते। जासूसी उपन्यास

बेहद कुतूहल पूर्ण हैं। कुछ विद्वानों, तिलस्मी उपन्यासों और जासूसी उपन्यासों की पृथक् पृथक् विशेषताएँ बतायी हैं, परन्तु उनका वर्णन यहाँ नहीं दिया जायेगा।

(ii) दूसरा युग जिसके प्रतिनिधि लेखक पं० किशोरीलाल, पं० हरिऔध, पं० लज्जाराम मेहता, आदि हैं।

इन उपन्यासों में प्रवृत्ति वह ही बहिर्मुखी है, परन्तु इन्हें हम ऐतिहासिक तथा सामाजिक उपन्यास भी कह सकते हैं। पं० लज्जाराम के 'हिन्दू गृहस्थ', 'आदर्श दम्पति' और 'बिगड़े का सुधार' अधिक रूप से उपन्यास कोटि में आते हैं क्योंकि इन में चरित्र चित्रण का तत्त्व तथा हिन्दू संस्कृति के द्योतक चित्र मिलते हैं।

(२) मुंशी प्रेमचन्द युग (१९३७—१९९२)

मुंशी जी युग प्रवर्तक उपन्यास लेखक हैं। इन के उपन्यास सामाजिकता से परिपूर्ण हैं। 'सेवासदन' जिसमें स्पष्ट बताया है कि वेश्याओं का शहर से निकालना ही (समाज सुधार नहीं है अपितु सेवासदन जैसी संस्थाएँ स्थापित करना), 'निर्मला' में यदि वृद्ध विवाह का [illegible] मिलता है तो 'गबन' में स्त्रियों का गहनों से प्रेम का दुष्परिणाम देखने में आता है आदि सब ही सुन्दर उपन्यास हैं। 'रंगभूमि' मुंशी जी का सर्वोत्तम उपन्यास है और राजनैतिक आन्दोलन का सुन्दर चित्र उपस्थित करता है मुंशी जी के सब ही उपन्यास समाज के सब ही पक्षों का सुन्दर विवेचन करते हैं। इनमें धनिकों के अत्याचार, उच्चवर्णों के मिथ्या ढोंग, सरकारी अफसरों की नीचता खूब देखने में आते हैं। इन्होंने अपने उपन्यासों में गांधीवाद को भी अपनाया है। मुंशी जी के लगभग १२ उपन्यास बहुत प्रसिद्ध हैं इनकी भाषा चलती हुई है, भाव सुन्दर है।

पं० जयशंकर प्रसाद जी ने भी दो उपन्यास लिखे 'कंकाल' और 'तितली' इनकी भाषा साहित्यिक है और विषय भावपूर्ण

है। जैसा नाम से ही स्पष्ट है 'कंकाल' में समाज का खूब खोखलापन और मिथ्याभिमान दिखाया है

इस युग के अन्य लेखक कौशिक जी, वृन्दावन लाल जी जो ऐतिहासिक उपन्यास लेखक हैं तथा प्राचीन गौरव के पक्षपाती हैं, ऊषादेवी मित्रा, सियारामशरण तथा चण्डी प्रसाद जी हैं। कौशिक जी का 'माँ' और 'भिखारिणी', बर्मा जी के 'गढ़कुंडार' और 'विराटा की पद्मिनी' सिया रामशरण का 'गोद' विशेष रूप से याद रखने के योग्य है परन्तु इनकी अपनी अपनी विशेताएँ पढ़ने से ही स्पष्ट होंगी।

(३) मुंशी प्रेमचन्द के बाद का युग अथवा आधुनिक युग

इस युग की विशेषताएँ :—

(i) इस काल के उपन्यासों की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी है अर्थात् उनका आधार मनोविज्ञान है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति के हृदय में सामाजिक रूढ़िवाद के विरुद्ध भावना उत्पन्न करा कर व्यञ्जना वृत्ति द्वारा समाज की भलाई-बुराई की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।

(ii) इस युग में धर्माधर्म के भी नये आदर्श उपस्थित करने की चेष्टा दृष्टि गोचर होती है, अर्थात् इन उपन्यासों में आधुनिक युग का नवयुवक अपने को हर दिशा में सामाजिक बन्धनों से स्वतन्त्र करना चाहता है।

(iii) इस युग में गांधीवाद के प्रति विद्रोह भावना भी स्पष्ट रूप से लक्षित होती है तथा नारी के शारीरिक सौंदर्य को पुरुष के लिये स्वाभाविक आकर्षण बताया है।

(iv) मार्क्सवाद के प्रति प्रेम भावना, प्रत्येक सामाजिक नियन्त्रणों पर कटु टिप्पणी, पातिव्रत्य जैसे पवित्र सिद्धांत को पूञ्जीवाद कहकर कलुषित करना, वैवाहिक व्यवस्था को नर

मेध कहकर हँसी उड़ाते हुये उसे छिन्न-भिन्न करने का प्रयत्न, वैयक्तिक बुरी भावनाओं को मानसिक स्वतन्त्रता बताकर उनका परिपोषण करना, आचार अनाचार का भेद भाव मिटाकर एकता का प्रचार करना आदि कुछ आधुनिक उपन्यासों के विषय बने हुये हैं।

वैयक्तिक अध्ययन के पक्षपाती तथा मानसिक अवस्था विशेष रूपी दीप हाथ में लेकर बुराई में अच्छाइ देखने वालों में सर्व-प्रथम नाम जैनेन्द्र जी का आता है। उनके उपन्यास 'सुनीता' 'परख' और 'कल्याणी' पठनीय हैं।

श्री भगवतीचरण इस प्रकार के द्वितीय लेखक हैं। इन्होंने उपन्यासों, कथानकों में ही पाप-पुण्य के नये रूप रखने का प्रयत्न किया है इनका 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते'नाम का उपन्यास प्रसिद्ध है। श्री भगवती प्रसाद जी ने अपने 'प्रेमपथ' और 'पिपासा' में यद्यपि कर्तव्य का महत्त्व दिखाया है परंतु नारी सौंदर्य पुरुष के लिए स्वाभाविक आकर्षण है यह भी सिद्ध करना चाहा है।

पं० इलाचन्द्र जोशी ने 'प्रेत और छाया' 'संन्यासी' और 'परदे की रानी' में मनोविज्ञान के आधार पर सामाजिक जीवन पर अच्छा प्रकाश डाला है। इसी तरह दूसरे लेखक श्री नरोत्तम नागर हैं जिन्होंने अपने उपन्यास 'दिन के तारे' में मनोविज्ञान के आधार पर गांधीवाद को हेय बताया है। अञ्चल ने भी 'चढ़ती धूप' में गांधीवाद पर कटाक्ष किया है।

मार्क्सवाद के प्रेमियों में यशपाल जी तथा राहुल जी के नाम स्मरणीय हैं। यशपाल जी के 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'दिव्या' और 'पार्टी कामरेड' प्रसिद्ध उपन्यास हैं। इनमें प्रेमवार्ता का भी साथ साथ सम्मिश्रण है। गांधीवाद का तीव्र विरोध कम्यूनिस्ट सिद्धान्तों का समर्थन इन उपन्यासों की विशेषता है। मार्क्सवाद को समाज के उत्थान की आधारशिला बताना इन उपन्यासों का

ध्येय है। राहुल जी ने अपने 'सिंह सेनापति' में मार्क्सवाद का खूब समर्थन किया है और उसी सिद्धान्त के अनुसार आदर्श समाज देखने की सम्भावना को पाठकों में उत्पन्न करने का प्रयास किया है।

अन्त में हम यह कहना आवश्यक समझते हैं कि हिन्दी उपन्यासों का सृष्टि-क्रम बड़े वेग से चल रहा है। लेखक देशी-विदेशी सिद्धांतों का सहारा लेकर अपना-अपना मत पुष्ट करने की धुन में लगे हुये हैं। व्यक्ति की मानसिक स्वतन्त्रता के आधार पर पाप-पुण्य की नयी परिभाषा निर्माण में सब ही उपन्यास लेखक व्यग्र प्रतीत होते हैं, तथा सब ही एक आदर्श समाज इस पुण्यभूमि भारतवर्ष में जुटाना चाहते हैं, परन्तु धर्माधर्म का समुचित मापदण्ड निश्चित किए बिना कामकारत: लिख डालना समाज के अभ्युदय का कहाँ तक हेतु बनेगा यह विचारणीय परिस्थिति है। युवावस्था की तरंग में, अपरिपक्व विचारों के आधार पर प्राण भय से भी मिथ्या न भाषण करनेवाले ऋषि-मुनि प्रणीत धर्म्म-ग्रन्थों की अवहेलना कर अपने कृत्याकृत्य कर्मों की पुष्टि के लिये मनमानी व्यवस्था समाज के सामने रखना कहाँ तक वाञ्छनीय है, इसका विचार लेखक अवश्य करें।

बारहवाँ प्रवचन

कहानी

कथा, कहानी, गल्प और आख्यायिका शब्द जो समानार्थक है प्राय: छोटी काल्पनिक कहानी के लिए प्रयुक्त होते हैं। कल्पना के आधार पर गठित होने के कारण इतिहास तथा यथार्थ तथ्य के आधार पर लिखी इतिवृत्तात्मक घटनाओं से इन्हें सहज ही में पृथक् किया जा सकता है। यद्यपि कथा कहने और सुनने की

प्रवृत्ति मानव जाति में आदियुग से दृष्टि गोचर होती है किन्तु उसमें काल क्रम से परिवर्तन होता रहा है। वेदों, उपनिषदों तथा जातक ग्रन्थों के आख्यान तथा सम्वादों में हम कथात्मक शैली से तथ्य को सरल बनाने की प्रवृत्ति को पल्लवित होता हुआ देखते हैं, लेकिन उन कथानकों का आज भी कहानी से सम्बन्ध जोड़ना युक्ति संगत नहीं। प्राचीन युग की कहानी मुख्यत: दो तत्वों को अपने भीतर समेट कर लिखो गई है—पहला तत्त्व मनोरञ्जन और दूसरा उपदेश है। उपदेशात्मक शैली पर लिखो गई कहानियों में बौद्ध कथा, ग्रन्थ जातक तथा संस्कृत के वृहत्कथा, कथा-मंजरी वैताल पचीसो तथा पंचतंत्रादि है। इन ग्रंथों के ध्येय में जो भाव है वह इतना सुस्पष्ट है कि वह विशेष व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखता। किंतु इन ग्रंथों के आधार पर हम यह निष्कर्ष तो सहज निकाल सकते हैं कि कथा-कहानियों के प्रति मानव का स्वाभाविक कुतूहल और अभिरुचि प्राय: सृष्टि के प्रारम्भ से ही रही है। हाँ, जीवन के संघर्ष तथा अन्तर्द्वन्द्व उस काल की कहानी के विषय नहीं बने थे और न कहानी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा समाज को प्रबुद्ध या चेतना देने का ही साधन थी। मनोरंजन, कुतूहल विस्मय तथा उपदेश को स्वीकार करके मनुष्य तथा मनुष्येतर पशु-पक्षियों की कथा ही प्राचीन काल से कहानी के रूप में गृहीत होती रही।

कहानी ने पाश्चात्य देशों में हमारे देश की अपेक्षा पहले नूतन कलेवर धारण किया। जीवन के समीप आकर साहित्य का प्रधान अंग कहानी जिस आकर्षण के साथ वहाँ बनी हमारे देश में न बन सकी। उन देशों में गूढ़ विषयों का विश्लेषण भी कहानी द्वारा प्रस्तुत किया गया और कथानक के विस्तार के बिना ही अच्छे चित्र खींचे गये। उसका ही अनुकरण करके आधुनिक हिन्दी कहानी ने अपना रूप विन्यास सँजोया है।

आधुनिक हिन्दी कहानी के प्रारम्भ और विकास के विषय में आज साहित्य के इतिहास लेखकों में विशेष मतभेद नहीं है। वर्तमान गल्प का प्राचीन संस्कृत कथा ग्रन्थों या जातक गाथाओं से सम्बन्ध स्थापित करना अब गल्प का तिरस्कार समझा जाता है। स्वर्गीय मुन्शी प्रेमचन्द के शब्दों में "हमें यह स्वीकार कर लेने में संकोच नहीं करना चाहिये कि उपन्यासों की ही तरह वर्तमान आख्यायिका की कला भी हमने पश्चिम से ली है। अनेक कारणों से जीवन की अनेक धाराओं की तरह ही साहित्य में भी हमारी प्रगति रुक गई और हमने प्राचीनता से जौ भर भी इधर उधर हटना निषिद्ध समझ लिया। साहित्य के लिए प्राचीनों ने जो मर्यादायें बाँध दी थीं उनका उल्लंघन करना वर्जित था अतएव काव्य, नाटक, कथा किसी में भी हम आगे कदम नहीं बढ़ा सके। पश्चिम प्रगति करता रहा उसे नवीनता की भूख थी और मर्यादा बेड़ियों से चिढ़।

संक्षेप में, वर्तमान हिन्दी कहानी अपने प्रकृत रूप में पश्चिम की देन है। जिसे आधुनिक युग में साहित्यकों ने कहानी कला के समस्त उपकरणों और तत्वों के साथ ग्रहण करके हिन्दी साहित्य की श्री वृद्धि में योग दिया है। हिन्दी साहित्य में कहानी का अपने नवीन रूप में प्रादुर्भाव हुए अभी बहुत लम्बा समय नहीं हुआ। हिन्दी गद्य के विकास के लगभग पचास वर्ष बाद हम कहानी को अपने वर्तमान स्वरूप में गठित होता हुआ पाते हैं। ईसा की बीसवीं शताब्दी के साथ ही हिन्दी में आधुनिक गल्प का प्रारम्भ समझना चाहिये। हाँ इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि हिन्दी गद्य के विकास के अरुणोदय में कथा कहने की प्रवृत्ति हमें कतिपय प्रारम्भिक गद्य प्रवर्तकों में दृष्टिगोचर होती है। सैयद इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' राजा शिवप्रसाद का 'राजा भोज का सपना' और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की "कुछ आप

बीती और कुछ जग बीती कहानी" का इस प्रकरण में उल्लेख करना आवश्यक है। किन्तु आधुनिक समीक्षा कसौटी पर इन तीनों कहानियों को परखने पर हमें इनमें नूतन तत्वों का सर्वथा अभाव परिलक्षित होता है। फलत: ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक हम कहानी के बीज को किसी भी लेखक में अंकुरित होते हुए नहीं देखते। यथार्थ में बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बँगला और अंग्रेजी के अनुवाद के साथ हिन्दी कहानी का अंकुर विकसित हुआ है।

हिन्दी कहानी के प्रथम उत्थान काल में वृन्दावन के श्री किशोरीलाल गोस्वामी का नाम प्रथम कथालेखक के रूप में लिया जाता है। कहानी कला की दृष्टि से भले ही गोस्वामी जी की कहानियाँ उत्तमकोटि की न हों किन्तु कहानी के विकास क्रम में वे अपना विशेष महत्त्व रखती हैं। कुछ आलोचकों ने इनकी कहानियों में अंगरेजी के अनुवाद की छाया पाई है। उसी समय के आस पास अर्थात् बीसवीं शती की प्रथम शताब्दी में श्री पार्वती नन्दन तथा बंग महिला की बँगला कहानी के छायानुवाद के आधार पर लिखी दो चार कहानियाँ हिन्दी में मिलती हैं किन्तु वैज्ञानिक संघर्ष या अन्तर्द्वन्द्व का इनमें सर्वथा अभाव ही रहा। कहानी रोचक तो बनी पर जीवन के आंतरिक अन्तर्द्वन्द्व को प्रकाशित करने की क्षमता अपने भीतर न जुटा सकी।

इसके ठीक बाद हिन्दी में दो उद्गमों से कहानी का विकास दृष्टिगत होता है। पहले उद्गम पर आदर्शवादी दृष्टिकोण से जीवन की व्याख्या करनेवाले जयशंकर प्रसाद, चण्डी प्रसाद 'हृदयेश', राजा राधिकारमण सिंह आदि हैं जो कहानी में कल्पना, माधुर्य आदर्श आदि का पुट देकर उसे इस लोक की वस्तु होने पर भी कुछ दिव्य सा बना देते हैं। कल्पना की उड़ान में यथार्थ की उपेक्षा तथा लौकिक भावनाओं की छाप अतिरंजित

रूप में इनकी कहानियों में अत्यधिक मात्रा में है। कहानी अपने प्रकृत सरल रूप का त्याग करके गद्य काव्य के क्षेत्र में जा पहुँची और भाषा तथा भाव माधुर्य से इतनी आक्रान्त हो गये कि इनका स्वरूप भी पहचानना कठिन हो गया। हाँ, जयशंकर प्रसाद ने कुछ कहानियाँ लिखने के बाद ही अपनी कला का रूप बदल दिया और मनोविज्ञान की कसौटी पर खरी उतरने वाली कहानियाँ भी आप ने लिखीं। उनकी बाद की लिखी कहानियों के अन्तराल में मर्म को स्पर्श करनेवाली करुणा और समवेदना की अविरल धारा प्रवाहित होती रहती है।

इसी युग में दूसरी ओर कतिपय अन्य कहानी लेखक कहानी को उसके नवीन उपकरणों से सजाकर दैनिक जीवन की घटनाओं को अपना केन्द्र बिन्दु बना उसमें प्राण प्रतिष्ठा करने में संलग्न थे। जीवन और समाज के प्रति उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी न होकर यथार्थवादी था। इस वर्ग के लेखक सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक समस्याओं को अपनी कहानी का विषय बनाने में लीन थे। उनके प्रतिनिधि लेखकों में पं० ज्वालादत्त शर्मा, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, मुन्शी प्रेमचन्द, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, सुदर्शन और विश्वम्भरनाथ जिज्या हैं। इस वर्ग के लेखकों में प्रायः सभी अपनी किसी न किसी विशेषता के लिए विख्यात है किन्तु कथा-साहित्य में युगान्तर पैदा करने का गौरव प्राप्त करने वाले हैं मुन्शी प्रेमचन्द। प्रेमचन्द जी से पहले कहानी ने जीवन को चारों तरफ से आवृत नहीं किया था। प्रेमचन्द जी उर्दू के सिद्धहस्त लेखक थे। उनके आगमन से हिन्दी कहानी में चटपटापन और भावों की मार्मिकता में प्रचुर मात्रा में वृद्धि हुई। एक प्रत्यक्ष-दर्शी यथार्थवादी की तरह प्रेमचन्द जी ने सामयिक जीवन के प्रत्येक विभाग को देखा। उनकी पैनी नजर से नगर और देहात का कोई वर्ग और कोई विभाग छूटा नहीं है। सभी

कुछ जैसे उनके लिए हस्तामलक है। मानव जीवन के प्रायः सभी संघर्ष और द्वन्द्व उनकी गल्प में प्रतिफलित होते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। पूर्व और पश्चिम की विभिन्न शैलियों को अपनाकर प्रेमचन्द ने अपनी कहानी में नये रूप की सृष्टि की। उनका सबसे अधिक मौलिक पक्ष भारतीय गाँव और मध्य वर्ग की जनता थी। इनसे पहले देहाती जीवन पर हिन्दी में इस दृष्टि-कोण से गल्प नहीं लिखी गई थी। भारत की नाड़ी को उन्होंने भली भाँति टटोला और स्थिति का पर्यवेक्षण करके उसका निदान तथा उपचार भी लिखा।

सच पूछा जाय तो प्रेमचन्द ने ही सबसे पहले कहानी को मनोवैज्ञानिक चित्रण का साधन बनाया। मानव स्वभाव और वर्ग संघर्ष का जैसा सजीव और सुन्दर विश्लेषण वे उपस्थित कर सके। दूसरा कोई इतनी सुन्दरता से न कर सका। प्रेमचन्द की अपनी विशेषता है कि वे अपने चरित्र चित्रण और कथा वस्तु में यथार्थवादी हैं और दृष्टिकोण में पूरे आदर्शवादी हैं यही कारण है कि वे भावुकता और रोमांस को अपनी कहानियों में अधिक स्थान नहीं दे सके। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने यद्यपि केवल तीन कहानियाँ लिखीं किन्तु वर्णन तथा अनुभूति की सरसता के कारण वे सदा के लिए कथा-साहित्य में अमर हो गये। 'उसने कहा था' तो उनकी लिखी कहानी आज हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानी है।

प्रेमचन्द के सम सामयिक हैं कौशिक और सुदर्शन। कौशिक जी पहले उर्दू में साग़िव नाम से लिखते थे। कथा वाङ्मय के क्षेत्र में वे प्रेमचन्द सम्प्रदाय के अन्तर्गत आते हैं। कथा निर्माण की कला में वे प्रेमचन्द के समान हैं किन्तु विषय या वस्तु की दृष्टि से इनमें भिन्नता दृष्टिगत होती है। कौशिक जी का क्षेत्र प्रायः पारिवारिक जीवन तक परिमित था। प्रेमचन्द्र की तरह व्यापक

नहीं। पारिवारिक जीवन के उतार चढ़ाव, उसमें उठने वाले मानव मन के अनेक मनोविकार, उसके सभी कोटि के व्यक्ति उनकी कथा के विषय बने। सुदर्शन जी की कला का विकास घटनाओं के परिवर्तन करने और हृदयग्राही मार्मिक चित्र खींचने में हुआ। इनकी भाषा चुस्त और व्यंगमयी थी किन्तु प्रेमचन्द की उपदेशात्मक और आदर्शवादी प्रवृत्ति को आप नापसन्द करते थे। आपकी भाषा में जिस प्रकार का वेग और तूफान था उसी प्रकार भावनाओं में भी विद्रोहात्मक प्रवृत्ति का ज्वालामुखी था। ये तीनों ही कलाकार द्वितीय उत्थान के प्रतिनिधि लेखक थे। किन्तु युग परिवर्तन हुआ मुंशी प्रेमचन्द द्वारा।

इस युग के अन्य प्रमुख लेखकों की चर्चा भी हम यहाँ करना आवश्यक समझते हैं। इस उत्थान में कुछ कार्यप्रधान जासूसी और तिलस्मी कहानियाँ भी लिखी गईं। जिनमें पाठक का विस्मय विमुग्ध करने वाली अद्भुत घटनाओं का जाल-सा बिछा रहता है। गोपालराम गहमरी और खत्री इस क्षेत्र के प्रमुख लेखक हैं। कुछ ऐतिहासिक कहानी भी सामने आईं जिनमें प्राचीन गाथा की कल्पना के योग से नवीन रूप दिया गया था। इसी उत्थान में दो-तीन कलाकारों ने समाज के बीभत्स, घृणित तथा रोमांचकारी लज्जास्पद चित्र अपनी कहानियों में उतारे। इस प्रकार के लेखक प्राकृतवादी naturalistic कोटि में आते हैं। इसके प्रतिनिधि लेखक हैं बेचन शर्मा 'उग्र' और चतुरसेन शास्त्री। दोनों लेखकों में प्रतिभा और कला की समृद्धि थी दोनों ने ही कला में चित्रों का उपयोग किया। किन्तु समाज पर इनका प्रभाव अवांछनीय पड़ा और साहित्य में इस प्रकार के साहित्य की कटु आलोचना हुई।

प्रेमचन्द के प्रभाव क्षेत्र से बाहर कदम रखते ही हिन्दी कहानी का तृतीय उत्थान शुरू होता है। किन्तु कुछ ऐसे लेखक

हैं जो प्रेमचंद सम्प्रदाय की छाप लेकर भी नवीन शैली से कहानी लिखने में प्रवृत्त हुये। अपनी मौलिकता के कारण उनका स्थान कहानी लेखकों में उल्लेखनीय है। इनमें सर्व श्री विनोदशंकर व्यास गोविन्दवल्लभ पंत, मोहनलाल महतो वियोगी, सियारामशरण और चन्द्रगुप्त विद्यालंकार हैं। ये पाँचों लेखक हमें नये युग की आगमन की सूचना देते हुए प्रतीत होते हैं। ऐसा लगता है मानो ये द्वितीय और तृतीय उत्थान के संधिस्थल पर खड़े दोनों युगों को जोड़ रहे हों।

हिंदी कहानी में नवीन युग का प्रवर्तन करके भाषा-भाव और अभिव्यजना की शैली में युगान्तर करने वालों में श्री जैनेन्द्रकुमार का नाम तृतीय उत्थान के लेखकों में सब से पहले आता है। कहानी-कला के विषय में अपने विचार प्रकट करते हुये उन्होंने एक स्थान पर लिखा है "कि हमारे अपने सवाल होते हैं, शंकाएँ होती हैं, चिन्ताएँ होती हैं और उनका उत्तर और उनका समाधान खोजने का हम सतत प्रयत्न करते रहते हैं, हमारे प्रयोग होते रहते हैं। कहानी इस खोज के प्रयत्न का उदाहरण है" कहानी को अपनी उलझनों को सुलझाने का प्रयोग मानकर ही जैसे जैसे जैनेन्द्र जी कहानी लिखने में प्रवृत्त होते हैं। उन्होंने कहानी की टैकनीक या शास्त्रीय मर्यादाओं को ज्यों का त्यों अपने ऊपर लागू नहीं होने दिया। भाषा, भाव और अभिव्यंजना की शैली में वे एक दम नये मौलिक हैं। आदर्शवादी दृष्टि को स्वीकार न करके भी अपने दार्शनिक सूक्ष्म चिन्तन तथा अवगाहन के कारण वे आदर्श की सीमाओं का पूरी तरह अतिक्रमण भी नहीं कर सके हैं। मानव मन के आभ्यन्तर को जान लेने की उनकी अपनी शैली है। अपनी सूक्ष्म दर्शन की इस प्रवृत्ति के कारण ही कदाचित् वे साधारण कोटि के पाठक के लिये दुर्बोध या गहन बन जाते हैं। रहस्यात्मक गुत्थियों के सुलझाने का लोभ उन्हें कभी-कभी मूल

कथानक से दूर भी ले जाता है। अपने पात्र को सुस्पष्ट व्यक्तित्व देने में इसी कारण उन्हें सौ फी सदी सफलता नहीं मिल पाती। किन्तु इन सब बातों के रहते हुये भी यह मानना होगा कि जैनेन्द्र-कुमार की कहानी कला एकदम मौलिक है। उनके पास स्वार्जित सृजन शक्ति है। स्वतन्त्र कलाभिव्यक्ति को लेकर ही जैनेन्द्र जी इस नवीन युग के प्रवर्तक के रूप में कहानी क्षेत्र में अवतीर्ण हुये हैं।

जैनेन्द्र जी के बाद हिन्दी में हम कहानी लेखकों की बाढ़ सी आती हुई देखते हैं। तृतीय उत्थान को यदि हम इस्वी सन् १९२८ से १९४८ तक मानें तो निश्चय ही इन बीस वर्षों में काव्य, नाटक, उपन्यास और निबन्ध लेखकों की अपेक्षा कहानी के क्षेत्र में आठ-दस गुने लेखक पैदा हुए हैं। कहानी लेखकों के इस बाहुल्य का कारण स्पष्ट है। जीवन-संग्राम की तन्मयता, समस्याओं की बहुलता, वर्गजनित संघर्ष की तीव्रता तथा समय की न्यूनता ने कलाकार का ध्यान अन्य क्षेत्रों से हटाकर कहानी की ओर उन्मुख किया। प्रत्येक पत्रिका में दो तीन कहानी का रहना आज आवश्यक सा हो गया है। इसके सिवा कुछ पत्र-पत्रिकाएँ तो केवल कहानी संग्रह ही प्रकाशित करती हैं।

आज कहानी जीवन के बहुत निकट आ गई है और वह जीवन की मनमोहक रीति से व्याख्या करने में व्यस्त है। आधुनिक युग के नवीन लेखकों ने कहानी को केवल मनोरंजन का साधन ही नहीं बनाया, अपितु वे समाज के उद्बोधन में भी कहानी को ही माध्यम बना रहे हैं। कला का जीवन के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करके 'कला कला के लिये' वाली बात से मानों उन्होंने कुछ निषेध सा किया है। उनकी दृष्टि में मनोवैज्ञानिक आधार पर टिकी तथ्य चित्रण करनेवाली कहानी ही सर्वोत्तम कहानी है। आज का लेखक आँख खोलकर समाज और उसके संघर्ष को देखता है और

अपनी आख्यायिका में उसके चित्र सजीव शैली में अनुभूति, कल्पना तथा भावुकता के सम्मिश्रण से चित्रित करता है। आज का लेखक मानव मन की क्षमता और दुर्बलता दोनों के सुन्दर दृश्य उपस्थित करके प्रकृत चित्रण का विश्वासी है। मानवीय शक्ति पर दैवीय या आध्यात्मिक विभूति की विजय पताका फह-राना उसे अभिष्ट नहीं। आज प्रगति और प्रेरणा में उसे जीवन दीखता है। पुरातन को वह लादकर नहीं चलना चाहता।

इस प्रकार संक्षेप में, तृतीय उत्थान के सर्वोत्तम दस कहानी लेखकों के यदि नाम गिने जायँ तो हमारी सम्मत्ति में सर्व श्री जैनेन्द्रकुमार, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवती चरण वर्मा, अज्ञेय, उपेन्द्रनाथ अश्क, यशपाल, कमला कान्त वर्मा, सुभद्राकुमारी चौहान, राहुल सांकृत्यायन और सुमित्रानन्दन पन्त होंगे। उच्च-कोटि के इतने लेखकों का बीस वर्ष के भीतर उत्पन्न होना हिन्दी के उज्ज्वल भविष्य का द्योतक है। किन्तु हिन्दी के सौभाग्य से ये दस ही नहीं इनके साथ इसी युग के दस अन्य उत्तम कलाकार हम कहानी क्षेत्र में देख रहे हैं उनमें स्त्री लेखिकाओं में श्रीमति महादेवी वर्मा, सत्यवती मलिक, उषादेवी मित्रा, हेमवती, कमलादेवी चौधरी, सुश्री शिवरानी और चन्द्रकिरण सोनरिक्सा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त सर्व श्री इला चन्द्र जोशी, वृन्दावनलाल वर्मा, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, पहाड़ी, अंचल, विष्णु प्रभाकर और राजेश्वरप्रसाद सिंह हैं। हास्य रस की कहानी लिखनेवालों में अन्नपूर्णानन्द और कृष्णदेवप्रसाद हैं। कतिपय लेखक आध्यात्मिक विषयों को भी कहानी का विषय बना रहे हैं। 'सवेरा' और 'संघर्ष' श्री भगवत शरण उपाध्याय की इसी शैली की रचनायें हैं।

तृतीय उत्थान के लेखकों में प्रगतिवाद तथा मार्क्सवादी विचार धारा का अंकन दृष्टिगोचर होता है मार्क्सवादी दृष्टिकोण को

अपनी दर्जनों कहानियों में श्री यशपाल ने बड़ी प्रभावशाली शैली से प्रस्तुत किया है। श्री राहुल सांकृत्यायन की समाजवादी दृष्टि-कोण समर्थक तथा समाज रचना के नूतन सिद्धान्तों को स्पष्ट करनेवाली कहानियाँ भी हिन्दी में अपना विशेष स्थान रखती हैं।

श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने इस युग की समस्याओं को चित्रित करने का प्रेमचन्द सम्प्रदाय के अनुसार ही सफल प्रयास किया है। इनकी रचनाओं के मूल में सेक्स सम्बन्धी अतृप्ति की भावना स्थान स्थान पर देने में आती है। बाजपेयीजी यथार्थवादी लेखक के रूप में कहानी क्षेत्र में आये और प्रगतिशील साहित्य की आवाज के साथ उन्होंने भी विद्रोह को अपनी कहानी का विषय बना लिया। आज वे नई पौध के लेखकों के साथ पुराने होने पर भी प्रगति की पुकार लगाने वालों में हैं। भगवतीचरण वर्मा तीसरे लेखक हैं जिन्होंने सामाजिक आचार विचार पर तीक्ष्ण व्यंग किये हैं। अज्ञेय हिन्दी के प्रतिभा सम्पन्न कुशल कलाकार हैं। कविता, कहानी और उपन्यास तीनों ही क्षेत्रों में उन्होंने नूतन शैली और मौलिकता को स्वीकार किया है।

श्री उपेन्द्रनाथ अश्क की कहानी (कहानी के क्षेत्र में) नाटकीय तत्वों को स्वीकार करने के कारण बड़ी सुन्दरता के साथ विकसित हुई है। भाषा में लोच, तड़क-भड़क और मनमोहक छटा लाने में वे प्रेमचंद और सुदर्शन के सम्प्रदाय में हैं। सामाजिक कुरीतियों को केन्द्र बनाकर उसके चारों ओर अपनी कला का जाल बुनना उनकी चातुरी का द्योतक है। इनके अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक आधार पर कहानी लिखनेवाले अनेक लेखक हिन्दी में उत्पन्न हो रहे हैं। आज के उदीयमान लेखकों में दिल्ली के श्री विष्णु प्रभाकर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। श्री केशवदेव शर्मा और रामकृष्ण देव गर्ग का कलम थाम कर बैठे

रहना हिन्दी का दुर्भाग्य है। इन दोनों की कहानियाँ संख्या में कम होने पर भी अपना अमर स्थान रखती हैं।

संक्षेप में, आज हिन्दी में कहानी साहित्य का बाहुल्य है। कहानियों के इस बाहुल्य का कारण है आजकल का जीवन संग्राम और समयाभाव। अब वह जमाना नहीं रहा कि हम चन्द्रकांता संतति ख्याल लेकर बैठ जायें और सारे दिन उसी की कुंजी में घूमते फिरें। कार्य संकुल होने के कारण आज हम चाहते हैं कि थोड़े से समय में अधिक से अधिक मनोरंजन कर लें। आज हम लम्बा चौड़ा उपन्यास नहीं चाहते। हमें ऐसी कहानी चाहिए जो पन्द्रह बीस मिनट में पढ़ी जा सके। हम चाहते हैं वह कहानी थोड़े से थोड़े शब्दों में कही जाय। उसमें एक भी वाक्य क्या एक शब्द भी व्यर्थ न हो। उसका एक वाक्य ही मन को आकृष्ट करले और अन्त तक अपने में मुग्ध किये रहे। उसमें कुछ चटपटापन हो कुछ ताजगी हो कुछ विश्वास हो। कुछ विश्लेषण हो और साथ ही कुछ तत्त्व भी हो।

आधुनिक हिन्दी कहानी में हम उपर्युक्त सभी तत्त्वों का सुंदर समावेश पाकर उसके उज्ज्वल भविष्य की आशा रखते हैं। आज का युग प्रगति और नूतन चेतना का युग है। प्रगतिवाद को लेकर आज साहित्य के सभी विभागों में नये प्रयोग हो रहे हैं, कला और साहित्य का माप दंड जीवनोपयोगी दृष्टि से बन रहा है। मार्क्स और फ्राइड की विचार धारा अद्यतन हिन्दी कहानी में भी स्थान पा रही है। सामाजिक विषमता और वर्ग भेद मिटाने के लिए कहानी भी मुखरित हो उठी है। केवल रोचक दृश्य आज कहानी का विषय नहीं हो सकता। स्थूल सौंदर्य से आज का लेखक प्रेरणा नहीं पाता। उसे सौंदर्य की झलक पाकर ही पाठक को भावनाओं को स्पर्श करना होता है। फलतः सेक्स और समाज विषमता वर्ग भेद रोटी और रुदन आज की कहानी के

मुख्य विषय हैं। आशा है आज के लेखक इससे ऊपर उठकर राष्ट्रीय चेतना और साहित्य-विकास को लक्ष्य करके भी कुछ रचनायें करेंगे। फिर भी आज का कहानी साहित्य समृद्ध है और उसके उज्ज्वलतम भविष्य की आशा की जा सकती है।

तेरहवाँ प्रवचन

निबंध

किसी के शब्दों में निबंध की परिभाषा इस प्रकार है :—

"निबंध उस गद्य-रचना को कहते हैं जिसमें एक मित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।"

निबंध कई प्रकार के होते हैं—यथा:—१. वर्णनात्मक २. विवरणात्मक ३. विचारात्मक ४. भावात्मक।

इनके मिलने से और भी बहुत प्रकार हो सकते हैं। निबंध के हर एक भेद के लिए पृथक् पृथक् शैली है जिनका वर्णन समयाभाव और स्थानाभाव के कारण इस पुस्तक में नहीं किया जा सकता। संक्षेप में हिन्दी-साहित्य के आधुनिक निबंधों का इतिहास इस प्रकार है।

हिन्दी साहित्य में निबंध का विकास—भारतेन्दु युग से प्रारम्भ होता है और उसका ऐतिहासिक अध्ययन अधोलिखित तीन युगों में करना चाहिए।

(१) भारतेन्दु युग :—ये निबंधों के लिए प्रारम्भिक युग था। साहित्य के इस अंग का उदय उस समय की सामाजिक और राजनैतिक परिस्थित के कारण हुआ। भारतेन्दु और उनका मित्र-मंडल ही निबंधों के प्रथम लेखक थे। यद्यपि इस काल के निबंधों

में गाम्भीर्य्य की अपेक्षा मनोरञ्जन की सामग्री अधिक मिलती है तथापि समाज सुधार और देश भक्ति पर वे खासे सुन्दर निबंध हैं।

(२) द्विवेदी युग—यह निबंधों के लिए बीच का युग है। द्विवेदी जी ने भाषा को शुद्ध बनाने का बड़ा प्रयत्न किया और इस युग में द्विवेदी जी के प्रोत्साहन से आलोचनात्मक निबंध लिखे गये। साहित्यान्तरों से भी निबंधों का अनुवाद हुआ। परन्तु विशेष मौलिक कार्य इस युग में भी न होने पाया। द्विवेदी जी के अतिरिक्त इस समय के प्रसिद्ध निबंध लेखक पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० पद्मसिंह शर्मा, बाबू गोपालराम गहमरी और बा० ब्रजनन्दन सहाय थे। मिश्रबन्धुओं ने भी यद्यपि इसी काल में लिखा परन्तु निबंधों में कुछ विशेष उन्नति न होने पाई।

(३) आधुनिक युग या शुक्ल युग :—यह निबंधों के लिए गहराई का युग है। आचार्य्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंध बहुत गूढ़ हैं। परन्तु सरस हैं। इनके निबंधों का संकलन "चिन्तामणि" में हो चुका है। शुक्ल जी के बहुत से निबंध मनोवैज्ञानिक भी हैं—जिनमें भावों का खूब विश्लेषण मिलता है। इस समय के अन्य निबंध लेखकों के नाम इस प्रकार हैं :—१—पदुमलाल-पन्नालाल बख्शी, २—जयशङ्कर प्रसाद, ३—निराला, ४—शान्तिप्रिय द्विवेदी, ५—जैनेन्द्र, ६—नगेन्द्र, ७—प्रभाकर माचवे, ८—सत्येन्द्र आदि।

अन्त में हम यह लिखना आवश्यक समझते हैं कि हिन्दी का निबंध-साहित्य अच्छा उन्नत है। यद्यपि आलोचनात्मक निबंध तो बहुत मिलते हैं परन्तु सामाजिक, राजनैतिक और मनोवैज्ञानिक विषयों पर निबंधों की अभी कमी है।

समालोचना

समालोचना से तात्पर्य है वह साहित्यिक लेख जिसमें किसी साहित्यिक लेख अथवा किसी कवि या उसकी कृति का पूर्ण रूप से मनन कर जिन परिस्थितियों में वह लिखा गया है या उत्पन्न हुआ है उन पर दृष्टि रखते हुए दोष तथा गुणों का उद्घाटन और उसके विषय में अपना मत प्रकाशन किया हो।

समालोचना की यह परिभाषा ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि समालोचना शास्त्र भी है और कला भी। शास्त्र इस लिए कि समालोचक को परख या कसौटी के कुछ नियम ध्यान में रखने पड़ते हैं और कला इस लिए कि समालोचक नियमों को दृष्टि में रखकर किसी की कृति को सुन्दर या असुन्दर उद्घोषित करता है।

आलोचना करना सरल कार्य नहीं है

आदर्शात्मक, तुलनात्मक, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक ढंगों से समालोचक को किसी कवि या उसकी कृति की समालोचना करनी चाहिए। और समालोचना में कभी त्वरा से काम नहीं लेना चाहिए अतएव आलोचना कठिन कार्य है।

समालोचना का इतिहास—समालोचना का इतिहास हरिश्चन्द्र युग में पत्र-पत्रिकाओं में प्रारम्भ होता है। प्रारम्भिक अवस्था में समालोचना किसी कवि के गुण-दोष प्रकटनात्मक ही थी और धीरे धीरे वह अपने यथार्थ रूप को प्राप्त हो रही है। जैसे हम देखते हैं—कि भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग में समालोचना का कार्य यह था कि अमुक कवि में क्या गुण और क्या दोष है।

मिश्रबन्धुओं ने कवियों के गुण-दोष प्रकटन के साथ साथ कवियों की विषय में गति और उनकी शैली आदि और अन्य

विशेषताओं की ओर भी ध्यान दिलाया। मिश्रबन्धुओं के काल में तुलनात्मक आलोचना भी प्रारम्भ हुई। आगे चलकर आचार्य शुक्ल ने आलोचना का उत्कृष्ट व्याख्यात्मक रूप पाठकों के सामने रखा। इसी प्रकार आधुनिक काल में डा० श्यामसुन्दर दास आदि द्वारा आलोचना का ऐतिहासिक रूप भी क्षेत्र में आया।

आज कल की समालोचनाएँ यद्यपि कुछ भाव-प्रधान हैं, कुछ बुद्धिवाद लिए हुए हैं परन्तु उनमें शास्त्रीयता की प्रधानता अधिक है।

आज के प्रमुख आलोचक ये हैं :—

१—पं० कृष्ण शङ्कर शुक्ल, २—डा० रामकुमार वर्मा, ३—सत्येन्द्र, ४—नगेन्द्र, ५—हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा ६—शिलीमुख आदि।

अन्त में हम यह कहना आवश्यक समझते हैं कि वर्तमान कालिक आलोचकों के कई वर्ग हैं और उनकी कसौटी भी भिन्न-भिन्न है। कोई पक्ष को अधिक महत्त्व देता है कोई मनोवैज्ञानिक पक्ष की ओर अधिक झुका हुआ है और कोई प्रगतिवादी आलोचक है। डा० धीरेन्द्र वर्मा आलोचना में इतिहास और खोज पर बहुत जोर देते हैं।

इसी सम्बन्ध में श्री सद्गुरुशरण अवस्थी, बलदेवप्रसाद मिश्र, प्रभाकर माचवे आदि का नाम भी स्मरणीय है।

नोट :—

छात्रों को हिन्दी में जीवनियों पर, साहित्य सम्मेलन पर, हिन्दुस्तानी एकेडेमी आदि पर भी थोड़ा पढ़ लेना चाहिए। यह ज्ञान की विशिष्टता, परिपक्वता तथा प्राशस्त्य है।

पत्र-पत्रिकाएँ

इनका पहिले का अधिक इतिहास न देकर यह अधिक उचित प्रतीत होता है कि वर्तमान समय के प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं का नामतः उल्लेख कर दिया जाय। और वह इस प्रकार है—

स्थान	दैनिक पत्र	साप्ताहिक	मासिक	संकेत
देहली	१. हिन्दुस्तान	१. नवयुग	१. सरिता	प्रतीत होता है देहली को हिंदी से अच्छा प्रेम है। और आशा है कि कालान्तर में हिंदी देहली में भी अपना उचित स्थान पा जायगी।
	२. नवभारत	२. अर्जुन	२. कौमुदी	
	३. विश्वामित्र	३. विश्वामित्र	६. मनोरञ्जन	
	४. अमरभारत	४. हरिजन	४. नयाकदम	
	५. अर्जुन	५. हिंदू	५. चित्रपट	
	६. भारतवर्ष	६. आकाशवाणी	६. रसभरी	
	७. नेताजी	७. फौजीअखबार		
	८. मिलाप			

स्थान	दैनिक पत्र	साप्ताहिक पत्र	मासिक	संकेत
लखनऊ	१. अधिकार २. स्वतन्त्र भारत		१. बालविनोद २. माधुरी ३. सुधा	माधुरी ने आरम्भ से ही हिन्दी की बहुत सेवा की है इसके आज के संपादक पं० रूपनारायण पांडेय हैं। और नवल किशोर प्रेस से छपती है।
कानपुर	१. प्रताप २. जागरण	१. प्रताप		प्रताप के सम्पादक श्रीमान् हरिशंकर विद्यार्थी हैं। साप्ताहिक प्रताप में नारी के लिये बहुत कुछ सामग्री होती है।
इलाहाबाद	१. भारत	१. भारत २. देशदूत	१. चाँद २. दीदी ३. सरस्वती ४. नई कहानियाँ ५. रसीली कहानियाँ ६. मनोहरकहानियाँ ७. माया ८. बालक ९. खिलौना १०. बाल सखा	चाँद और सरस्वती दोनों बहुत दिनों से हिंदी की सेवा कर रहे हैं। ३० वर्ष तक सरस्वती के संपादक द्विवेदी जी रहे थे और इसके द्वारा हिंदी भाषा का महत्त्व बढ़ा। सरस्वती इंडियन प्रेस लि० से छपती है। माया प्रेस अधिकतर कहानी-साहित्य के प्रसार में लगा हुआ है।

स्थान	दैनिक पत्र	साप्ताहिक	मासिक	संकेत
नैनीताल		१. हिमालय		
ग्वालियर		१. जय जी ताप सप्ताह में दो बार मनोरञ्जन प्रेस से निकलता है।		रियासत का सरकारी पत्र है हिंदी तथा अँग्रेजी दोनों भाषाओं में निकलता है। यह साहित्यिक चर्चा सामाजिक चर्चा और नारी चरित्र चित्रण आदि लिये हुए रहता है।
नागपुर	१. लोकमत २. नव भारत			लोकमत के सम्पादक नरेन्द्र विद्यावाचस्पति हैं।
गोरखपुर			गीता प्रेस कल्याण	पिछले २१ वर्ष से धर्म के साथ साथ यह हिंदी साहित्य की अनुपम सेवा कर रहा है।

स्थान	दैनिक पत्र	साप्ताहिक	मासिक	संकेत
कलकत्ता	१. विश्वामित्र २ जगरीति ३. विश्वबन्धु	१. आदर्श २. जगरीति ३. पूंजी	१. विशाल भारत	
पटना	१. आर्य्यवर्त २. राष्ट्रवाणी	१. विजली २. हुंकार ३. जनता ४. नवशक्ति ५. योगी		
पूना		१. दीनबन्धु		यह पिछले ७० वर्ष से हिंदी भाषा की सेवा कर रहा है।

चौदहवाँ प्रवचन

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रः—जन्म भाद्र शुक्ल ५ सं० १९०७
मृत्यु माघ कृष्ण ६ सं० १९४१

इस छोटी सी अवस्था में ही हिन्दी जगत् के आधुनिक काल के एक नए युग प्रवर्तक हुए। इन्होंने हिन्दी भाषा और साहित्य दोनों को एक नए रूप में ढाल दिया। आरम्भ में इनका साहित्यिक जीवन बंगला भाषा के कुछ सुन्दर नाटक और उपन्यासों के अनुवाद से प्रारम्भ हुआ। बंगला भाषा की इन पुस्तकों का इन पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ा और उनका हिंदी भाषा में अभाव इन्हें अखरा। इस कमी की पूर्ति का प्रयत्न भी इन्होंने अपने पूरे बल से किया और उसमें ये सफल भी हुए। इन्होंने अनेक पत्र पत्रिकाएँ निकालीं इनके द्वारा हिंदी भाषा के प्रति समाज में प्रेम और आदर की भावना उदय होनी आरम्भ हुई और एक सुगठित गद्य भाषा का प्रसार बढ़ा।

गद्य में पहिले-पहल इनका ध्यान नाटकों की ओर गया

१. वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, २ चन्द्रावली, ३. विषस्य विषमौषधम्, ४. भारत दुर्दशा, ५. नीलदेवी, ६. अंधेर नगरी, ७. प्रेमयोगिनी ८. मुद्राराक्षस, ९. सत्य हरिचन्द्र आदि ये इनके प्रसिद्ध नाटक हैं। कुछ बंग भाषा से अनुवादित भी हैं—यथाः— विद्यासुन्दर, धनंजय विजय, मुद्राराक्षस, भारत जननी सत्य हरिश्चन्द्र, कर्पूरमंजरी, संस्कृत से अनुवादित हैं।

इनकी नाटक शैली मध्यम मार्ग की है—अर्थात् इन्होंने न तो अपनी भारती संस्कृत प्रणाली को ही छोड़ा और न ही पाश्चात्य अँग्रेजी नाटकों की पद्धति का अनुसरण किया। ये हिंदी साहित्य के सर्वतोमुखी विकास का हर समय ध्यान रखते थे। बादशाहदर्पण और 'काश्मीर कुसुम' आदि उनकी साहित्यिक रचनाओं में से हैं।

प्राचीन और नवीन का उनमें एक अनुपम सम्मिश्रण पाया जाता है। इनके जीवनकाल में ही उनके दिखाए हुए मार्ग पर चलने वाले अनेक लेखक उत्पन्न हो गये थे। उनमें से मुख्य उल्लेखनीय ये हैं—१—पं० प्रतापनारायण मिश्र, २—ठाकुर जगमोहन सिंह, ३—पं० बद्रीनारायण चौधरी, ४—पं० बालकृष्ण भट्ट, ५—पं० केशवराम भट्ट, ६ - पं० अम्बिकादत्त व्यास, ७—पं० राधाचरण गोस्वामी ८—ला० श्रीनिवासदास, ९—बा० तोताराम आदि।

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदीः—ये जिला रायबरेली में दौलतपुर ग्राम के रहनेवाले थे। इनका जन्म वैशाख शुक्ल ४ सं० १९२७ को हुआ और मृत्यु पौष कृष्ण ३० सं० १९८५ को हुई। ये बड़ी पुस्तकें लिखने के इतने अभ्यासी नहीं थे-इन्होंने फुटकर लेख बहुत लिखे हैं। तीस वर्ष तक सरस्वती पत्रिका के सम्पादन का कार्य संभालकर उसके द्वारा अपने साहित्यिक विचार जनता तक पहुँचाकर अपने जीवन में ही इन्होंने हिन्दी साहित्य में अपने लिये एक विशेष स्थान पैदा कर लिया था। खड़ी बोली इनसे पूर्व अभी तक अशुद्ध रूप में ही थी। इन्होंने प्रथम बार प्रयत्न करके इस खड़ी बोली के इस अशुद्ध रूप को बदल कर एक काव्योपयोगी भाषा में परिणत किया। यह ही हिंदी साहित्य को इनकी सबसे बड़ी देन है। कुछ संस्कृत ग्रन्थों के भी द्विवेदी जी ने अत्यन्त सुन्दर भाषा में अनुवाद किये। 'कुमारसम्भव' का अनुवाद अनुपम है और मौलिकता लिये हुए है। मैथिलीशरण गुप्त आदि आगे चलकर द्विवेदीजी के अनुयायियों में गिने जाने लगे। इन्होंने कुछ निबन्ध भी लिखे जिनकी भाषा सरल है—उनके दो चार प्रसिद्ध लेख अधोलिखित हैं:—

१. क्या हिंदी नाम की कोई भाषा ही नहीं?

२. आर्यसमाज का कोप

३. कवि और कविता
४. प्रतिभा आदि

इन्होंने कई अँग्रेजी कविताओं का हिन्दी अनुवाद किया। वह भी पठनीय है।

सुमित्रानन्द पंतः—पंत जी का जन्म सं० १९५७ में हुआ। इनकी अनेक रचनाएँ निकल चुकी हैं। ये भी निराला जी की भाँति प्रकृति के बड़े सुन्दर और मनोग्राहि वर्णन करते हैं। उन्हीं की भाँति अत्यन्त भावुक हैं। इनकी भाषा सरल और उसमें तत्सम शब्दों का प्रयोग कम है। ये खड़ी बोली के कवि हैं। परन्तु यह खड़ी बोली भी पंत जी की लेखनी की कोमलता द्वारा अपना अक्खड़ रूप छोड़कर अत्यन्त मधुर हो गइ है। उनकी 'पल्लव', 'ग्रंथि', 'बीणा', 'गुञ्जन' आदि अनेक गीत-काव्य अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ये केवल कल्पना के ही क्षेत्र में नहीं रहते अपितु यथार्थता के चित्र भी खेंचते हैं। मनुष्य की केवल मनोभावनाओं स न खेल कर वे उसे वास्तविकता का अनुभव कराते हैं। हाल की ही इनकी 'युगान्त' और युगवाणी' आदि रचनाओं में राष्ट्रियता की भावना भी प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है। 'ज्योत्स्ना' नामक एक अति सुन्दर रूपक ग्रन्थ भी इन्होंने लिखा है।

ला० भगवानदीनः—इनका जन्म सं० १९२३ में और मृत्यु १९८७ में हुई। लालाजी को अपनी पुरानी संस्कृति से अत्यधिक प्रेम था। इन्होंने हिन्दी के पुराने काव्यों का अच्छा अध्ययन किया था। ये बड़े विचारशील साहित्यिक थे। कविता में ये अपना उपनाम 'दीन' लिखते थे। आरम्भ में इनका झुकाव ब्रजभाषा की ओर था परन्तु बाद में देश की बोल-चाल की खड़ी बोली में ही अनेक वीर रस से परिपूर्ण रचनाएँ कीं। इनकी भाषा में अरबी या फारसी के शब्द भी आने लगे थे।

१—वीर क्षत्राणी, २—वीर बालक, ३—वीर पंचरत्न इनकी मुख्य रचनाएं हैं। पुरानी अनेक साहित्यिक पुस्तकों की लालाजी ने टीकाएं भी लिखी हैं। रामचंद्रिका-कविप्रिया-दोहावली कवितावली, बिहारी सतसई आदि अनेक पुरानी साहित्यिक पुस्तकों की टीका करके इन्होंने इनका अध्ययन साहित्य-प्रेमियों के लिए और साधारण जनता के लिये बहुत सरल बना दिया है।

इनकी अनेक फुटकर कविताओं का संग्रह "नदीये दीन" के नाम से निकला है।

महादेवी वर्मा—महादेवी वर्मा का जन्म सं० १९६४ में हुआ। इनका स्थान भी रहस्यवादी कवियों में आता है। परन्तु इनका संगीत संसार की वस्तुस्थिति को नहीं छोड़ता। ये उसको अपने साथ लिए हुए है। इनकी कविता ओज:पूर्ण और मानव हृदय के सरल भावों से भरी हुई है जो हृदय पर एक अमिट छाप बिठा देती है। उनकी कविताओं का संग्रह:—नीरजा, संध्या-गीत, नीहार, रश्मि, यामा, आदि ग्रन्थों में मिलता है। इनकी भाषा भी बड़ी सरल, मधुर और कोमलता लिए हुए है। और समाज की अवस्था देखकर इनकी कविता में हृदय की वेदना प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है। परन्तु ये निराशाग्रस्ता न होकर आशावादिनी हैं।

मैथिलीशरण गुप्त:—इनका जन्म सं० १९४३ में हुआ। इनकी कविता बड़ी सरस खड़ी बोली में होता है। यह कहना अनुचित न होगा कि ये आधुनिक हिन्दी भाषा खड़ी बोली के सबसे प्रसिद्ध और प्रतिनिधि कवि हैं। 'भारत-भारती' इनकी बड़ी प्रशस्त कृति है। इस पुस्तक ने भारत के राष्ट्रिय भावनाओं से ओत-प्रोत नवयुवकों के हृदय में एक विशेष स्थान पा लिया है। परन्तु काव्य की दृष्टि से 'जयद्रथ बध' इससे कहीं ऊँचा ठहरता है।

इनकी अधोलिखित प्रसिद्ध रचनाएँ हैं:—

१. साकेत	२. यशोधरा	३. हिन्दू	४. द्वापर
५. पंचवटी	६. किसान	७. केशों की कथा	८. सिद्धराज
९. गुरुकुल	१०. अनघ	११. तिलोत्तमा	१२. चंद्रहास

साकेत हिन्दी का महाकाव्य कहा जा सकता है। इसमें गुंसाईं तुलसीदास जी की भाँति कवि ने भगवान् राम के साथ बनों में न जाकर अयोध्या में ही रहते हुए भगवान् की कीर्ति का गुणगान किया है। कवि विशेष रूप से उर्मिला के चरित्र से प्रभावित हुए हैं। भाषा के विचार से कवि उच्च श्रेणी में आते हैं।

यशोधरा एक करुण रस का सुन्दर काव्य है।

अन्तिम तीन पुस्तकें छोटे छोटे पद्यबद्ध रूपक हैं।

इन्होंने कुछ बंगभाषा की पुस्तकों का अनुवाद भी किया है।

१—वीराङ्गना, २—मेघनाद वध, ३—विरहिणी ब्रजांगना, ४—पलासी युद्ध आदि पुस्तकों का अनुवाद बहुत ही सफल रहा है। अनुवाद में मौलिकता की झलक दिखाई पड़ती है।

निराला—इनका जन्म सं० १९५३ में हुआ। आधुनिक युग के कवियों में इनका आज बहुत ऊँचा स्थान है। ये एक बहुत विशाल हृदय लिए हुए हैं। इनका हृदय भावुकता से ओत-प्रोत है और साथ ही साथ दार्शनिक भी हैं। ये प्रकृति के सुन्दर दृश्य खींचने में अत्यन्त सफल हुए हैं। पाश्चात्य सभ्यता की छाप भी कहीं कहीं इनकी कविता में पाई जाती है। इनको राष्ट्रीयता की भावनाएँ बहुत ऊँचे दर्जे की हैं। इनकी भाषा संस्कृत के शब्द अधिक लिए हुए हैं-परन्तु प्रसादजी की भाँति पूर्ण रूपेण संस्कृत गर्भित नहीं हैं। ये मुक्त काव्य की रचना में ही आनन्द अनुभव करते हैं। 'तुलसीदास' नामक एक ग्रन्थ निकला है-जिसमें गुसाईं तुलसीदास जी के जीवन का एक भव्य चित्र है। इनकी शैली

नवीनता लिए हुए हैं। और यह ही इनकी 'निराला' उपाधि का रहस्य है।

जयशंकर प्रसादः—प्रसाद जी का जन्म सं० १९४५ में हुआ। ये हिन्दी जगत् के आधुनिक युग के सबसे बड़े साहित्यिक और लेखक माने जा सकते हैं। इनकी सं० १९९४ में असामयिक मृत्यु ने हिन्दी जगत् को वह क्षति पहुँचाई जो आज तक वह पूरी न हो सकी। बचपन से ही कविता से इन्हें प्रेम था। आप भारत की अतीत की स्मृतियों को लेकर चलते हैं। और उन्हीं अतीत की स्मृतियों पर अपने काव्य द्वारा अपनी भावनाओं का महल खड़ा करते हैं। प्रसादजी ने अत्यन्य भावुक हृदय पाया था और यही कारण है कि उनकी लेखनी को हम भावुकता से ओत-प्रोत पाते हैं। इनका क्षेत्र बहुत विशाल है—ये एक सफल कवि, सफल नाटककार, सफल उपन्यास लेखक और सफल साहित्यिक समलोचक हुए हैं। हिंदी संसार में इतने विस्तृत क्षेत्र में इस प्रकार सफल विद्वान् लेखक कोई दूसरा नहीं दीख पड़ता। 'कामायनी' हिंदी भाषा का महाकाव्य है। इस छोटी सी पुस्तक में भारत के अतीत का इतिहास है। समस्त मानव जाति का इतिहास है। और साथ ही है इसमें 'जीवन के प्रति' कवि का अपना दृष्टिकोण भी।

अजातशत्रु, राज्यश्री, स्कंदगुप्त, जनमेजय का नागयज्ञ, चन्द्रगुप्त आदि इनके सफल नाटक हैं।

कंकाल, तितली, इरावती (ऐतिहासिक) जो दुर्भाग्यवश पूरा न हो सका उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं।

आरम्भ से ही इन पर रहस्यवादी कवियों का प्रभाव प्रतीत होता है।

छोटी छोटी कहानियाँ लिखने में भी प्रसादजी बहुत सफल हुए हैं। इनकी आख्यायिकाएँ हृदय पर चोट करने वाली होती

हैं। कुछ कहानियाँ अतीत के इतिहास से सम्बन्ध रखती हैं। आरम्भ में ये ब्रज भाषाओं में कविता करते थे। "चित्राधार" में इनकी सब ब्रज भाषा की कविताओं का संग्रह है। खड़ी बोली में भी इनकी कविताएँ निकली हैं। 'प्रेमपथिक', 'करुणालय', 'कानन कुसुम' महाराणा का महत्त्व आदि इनकी प्रसिद्ध खड़ी बोली की रचनाएँ हैं।

(स्वर्गीय) मुन्शी प्रेमचन्द

आप का जन्म संयुक्त प्रांत में सं० १८९० ई० में हुआ। अब तक हिंदी-साहित्य में नाटक उपन्यास, कहानी आदि लिखे तो जाने लगे थे। परन्तु हिंदी साहित्य के उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द जी ने अपने उपन्यासों द्वारा हमें अपनी वास्तविक अवस्था का ज्ञान करवाया और उनके द्वारा ही हमारे सन्मुख एक आदर्श रखकर हमें क्रिया-शील भी किया। इसी कारण ये हिंदी साहित्य में "वास्तविकोन्मुख रहस्यवादी" कहलाए। आज तक के लेखकों ने भारत की ग्रामीण जीवन को छुआ तक न था। परन्तु इन्होंने वह हमारा ग्रामीण जीवन बड़े ही सुन्दर और वास्तविक ढंग में वर्णन किया है। भाषा भी बड़ी सरल है। उर्दू आदि के शब्द भी लिये हुए हैं। और पहले उर्दू के ही लेखक थे। आप आधुनिक लेखकों में सबसे सफल लेखक माने जाते हैं। उपन्यास के क्षेत्र में तो आप अविवाद रूप से सर्व-श्रेष्ठ माने जाते हैं।

आपकी निम्नलिखित कृतियाँ बहुत सफल मानी जाती हैं:—

उपन्यास :—

१. सेवासदन, २. प्रेमाश्रम, ३. रंग भूमि, ४. निर्मला, ५. प्रतिज्ञा, ६. गबन, ७. कायाकल्प, ८. गोदान, ९. कर्मभूमि।

कहानी संग्रह :—

प्रेम पूर्णिमा, प्रेम पचीसी, प्रेमद्वादशी, प्रेम तीर्थ, प्रेम प्रसून, प्रेरणा, सप्त-सरोज, मानसरोवर। इनके अतिरिक्त अनेक छोटी छोटी कहानियाँ लिखी हैं।

नाटक :—

प्रेम की वेदी, कर्वला-संग्राम।

आप हिंदी के क्षेत्र में बहुत देर से आए परन्तु फिर भी अपने इस छोटे से समय में ही हिंदी जगत पर अपनी लेखन शक्ति की एक अमिट छाप लगा दी है। आपकी मृत्यु १९३६ में हुई है।

(स्वर्गीय) पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय

आपका जन्म सं० १९१२ में हुआ था। आरम्भ से ही आप खड़ी बोली के कवि थे। परन्तु द्विवेदी जी के प्रभाव से पहिले आप की रचनाओं पर उर्दू भाषा की अधिक मात्रा में छाप मिलती है। इनकी सर्व-श्रेष्ठ कृति सं० १९७१ में—"प्रिय प्रवास" नाम का महाकाव्य माना जाता है। इस ग्रंथ में द्विवेदीजी का प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। भाषा संस्कृत गर्भित है। पर हिंदी की अपनी चाल भी मिटा नहीं दी गई है। खड़ी बोली का यह भावनाओं से भरा हुआ अब तक का सबसे बड़ा काव्य है। विरह-वेदना का वर्णन अद्वितीय है। हिन्दी जगत में आशा फैली थी कि 'प्रिय-प्रवास' जैसे महान् ग्रंथ के रचयिता अवश्य ही हिन्दी साहित्य को और अनेक इससे भी ऊँची रचनाओं के रूप में गौरवपूर्ण कोष देंगे। परन्तु इस ग्रंथ की रचना के पश्चात् खेद का विषय है कि इन्होंने अपना कार्यक्षेत्र बदल लिया। आप अब कवि न रहे अपितु उपदेशक और समाजसेवक के रूप में कार्य आरम्भ कर दिया। आप भाषा को मत्कारिक बनाने में लगे

रहे। मुहावरों का प्रयोग होने लगा। इसकी दूसरी महान् कृति "वैदेही-वनवास" है।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्रताप से भारत में हिन्दी-साहित्य के प्रति बड़े आदर के भाव हो गये थे। और इस साहित्य के जिज्ञासु दिन-प्रतिदिन बढ़ते जाते थे। भारतेन्दुजी ने केवल आठ वर्ष पश्चात् ही अर्थात् सं० १९५० में काशी में नागरी प्रचारिणी सभा कायम की। हिन्दी-साहित्य के लिये इस सभा की सेवाओं को गिनाया नहीं जा सकता। इतना कहना भी अतिशयोक्ति न होगा कि आज ५० वर्ष में ही जो हम हिन्दी-साहित्य के प्रति यह वातावरण देखते हैं—वह सब इस सभा की ही देन है। इससे पहिले हिन्दी भाव के अच्छे-से-अच्छे विद्वानों को भी उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था। परन्तु आज स्थिति इसके पूर्णतया विपरीत है। आज हिन्दी जगत से अपना अभिष्ट जगह पाने जा रही है। वह राष्ट्र की राष्ट्र भाषा होने का न केवल दावा करती है अपितु वास्तविक रूप में है। इस सभा ने हिन्दी के विषय में बहुत खोजपूर्ण कार्य किये हैं। अनेक प्राचीन ग्रंथों का अनुसंधान किया है। इस सभा ने अपनी मासिक पत्रिका भी प्रचलित की थी। "नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका" इस पत्रिका में बड़े बड़े हिन्दी-साहित्य के महारथी विद्वानों के विद्वत्तापूर्ण और खोजपूर्ण निबन्ध निकाले गए थे।

———